योग सिद्धान्तो और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 मई 1998 अंक 2

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) – 283 202

SIDDHYOG
MAY 1998

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	7-00
वार्षिक शुल्क	रु०	70-00
द्विवार्षिक	रु०	130-00
आजीवन	रु०	700-00

इस अंक में

- नित्योऽनित्याना 1
- अमृतकण 2
- दुःख क्या है? (विशेष लेख) 3
  योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज
- योग साधना में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय 9
  (सम्पादकीय)
- जपयज्ञ अथवा मन्त्रयोग 13
  पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
- ध्यानयोग की महत्ता 19
  डा० विजयसिंह
- सर्वभूतहितेरताः 21
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
- यौगिक प्रश्नोत्तरी 23
- मेरे जीवन में श्री सदगुरूदेव 25
  डा० स्वामी केशवाचार्य
- गीता में योग शब्द का प्रयोग 27
  ब्र० ओमप्रकाश
- पर दुःख-दुःख, सुख-सुख देखे पर 30
  राजेन्द्र प्रसाद पाठक
- सर्वत्र भगवद्दर्शन 32
  श्रद्धेय स्वामी श्री रामसुखदासजी महाराज
- परम ऋषि कपिल मुनि 39
  कै० ना० कुलश्रेष्ठ (जनकजी)
- आश्रम समाचार

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 2	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	मई 1998

नित्योऽनित्यानां

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना–

मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा–

स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।

(कठोपनिषद् बल्ली २, श्लोक १३)

अर्थात्

जो अनित्य पदार्थों में नित्य स्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनों में चेतन है और जो अकेला ही अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता हैं, अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मा को जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य शान्ति प्राप्त होती है, औरों को नहीं।

अमृत कण

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।।
(२/२/५)

क्या पहनने के लिये मार्ग में चिथड़े नही है? भूख लगने पर दूसरों के लिये ही शरीर धारण करने वाले वृक्ष क्या फल-फूलों की भिक्षा नही देते? क्या जल चाहने वालों के लिये नदियाँ सूख गयी है? क्या निवास-हेतु पहाड़ों की गुफाएँ बंद कर दी गयी है? अरे भाई! सब न सही, भगवान् तो शरणागतों की रक्षा कर ही रहे है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमान लोग भी धन के नशे में चूर-घमंडी धनियों की चापलूसी क्यों करते है?

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्त बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये।।
(३/२५/१५)

इस जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही माना गया है। विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु होता है। और परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है।

य उद्धरेत् करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुक्ते भगं च स्वं जहाति सः।।
(४/२१/२४)

जो राजा प्रजा को धर्म-मार्ग की शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करने में लगा रहता है, वह केवल प्रजा के पाप का ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्य से हाथ धो बैठता है।

* * *

विशेष लेख

दुःख क्या है ?

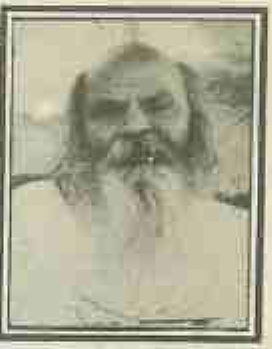

योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार में जन्म लेने वाला हर एक प्राणी दुःख निवृती के लिये हर समय प्रयत्नशील रहा करता है। किन्तु उसको पूर्णरूपेण यह ज्ञान नही होता कि वस्तुतः दुःख किस वस्तु का नाम है। **मुण्डे-मुण्डे मतिः भिन्ना** के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों की मतियाँ भिन्न-भिन्न होती है और वे लोग अपने मतिभेद के अनुसार दुःख और सुख की कल्पनायें किया करते है किन्तु दुःख का स्वरूप क्या है ? यह बात हर एक व्यक्ति तथा रूप से नहीं समझ पाता वस्तुतः तो योगी विवेकी पुरुष के लिये जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त केवल मात्र सभी क्रिया-कलाप दुःख ही दुःख है। अपने मन में जिन विषयों को हम सुख के लिये स्वीकार करते हैं परिणाम में उनका स्वरूप दुःख के अतिरिक्त कुछ भी नही। भगवान पतंजलि देव का योग दर्शन हमें बतलाता है कि **'परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःख मेव सर्व विवेकिन।** अर्थात् परिणाम ताप संस्कार दुःख और गुण वृत्ति विरोधादि के द्वारा विवेकी पुरुष यह सारा संसार दुःख मय ही है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये विवेचना करते हैं-

अर्थात् इन्द्रियों को भोगाभ्यास से वितृष्णा करना संभव नही हो सकता, भोगाभ्यास से इन्द्रियों के राग और चपलतायें उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इसलिये भोगाभ्यास सुख प्राप्ति का साधन नहीं। जिस प्रकार से एक मनुष्य वृश्चिक के विष से डरा हुआ सर्प विष से खाया जाये तो वह वृश्चिक विष की अपेक्षा और भी अधिक दुःख सागर में पड़ जाया करता है। क्योंकि इस प्रकार के उपायों से इन्द्रियों के राग शान्त नही होते। भगवान मनुदेव ने मनु स्मृति में बिल्कुल स्पष्ट किया है कि इन इन्द्रियों के राग भोगाभ्यास से शान्त नही होते। प्रत्युत जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से उत्तरोत्तर अग्नि ज्वालायें बढ़ती ही जाती है इसी प्रकार इन्द्रियोंपभोग से इन्द्रियों के राग भी उत्तरोतर बढ़ते ही रहते है इसलिये संसार के सभी भोग परिणाम में दुःख के ही दाता है। भगवान भर्तृहरि जी ने परिणाम दुःखता बताने को वैराग्य शतक में एक बहुत अच्छा श्लोक लिखा है।

भोगे रोगभयं कुले च्यूतिभयं,
वित्तेनृपालाद भयं,
माने दैन्य भयं वले रिपुभयं,
रूपे जराया भयं,

शास्त्रे वादभयं गुणे खल मयं,
काये कृतान्ताद्भयं
सर्व वस्तु भयावह भवि,
नृणां वैराग्य मेंवा भयम।।

अर्थात् भोगो मे रोगों का, ऊँचे कुल मे पतन का, धन मे राजा का, मान में दीनता का, बल में शत्रु का, तथा रूप मे वृद्धावस्था का भय है, इस प्रकार संसार में सभी वस्तुऐं मनुष्य के लिये भय पूर्ण है इसी का नाम परिणाम दुःखता है।

ताप दुखता—दूसरे प्रकार के दुःखों को ताप दुःखता माना है। ताप दुखता को समझने के लिये अपने भाष्य मे श्री व्यास देव जी ने अपने विचार प्रकट किये है अर्थात् चित्त मे इन्द्रियों के राग द्वेष पैदा होते रहते है जब किसी मनुष्य को कामाविधात होता है तो कामना पूर्ण न होने पर उसके मन में एक गहरी जलन होती है इससे मनुष्य कामनाओं के पूर्ण न होने से एक गहरी जलन का अनुभव करता है। इसी का नाम तापदुखःता है, यह दुखः भी परिणाम दुःख की तरह ही संसार के मनुष्यों को अनवरत होता रहता है। आजकल संसार के लोग मानस ताप से तपते रहा करते हैं।

संसार दुःखता—संसार दुखता को मोटे शब्दों मे इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि जिस समय सुख संस्कारों का भोग काल उपस्थित होता है। उस समय सुख संस्कार ही अधिकांश सन्मुख आया करते है किन्तु यह भी आवश्यक है कि क्लिष्टाकिलष्ट संस्कार परस्पर एक दूसरे से अविभूत रहा करते है प्राणी जिन संस्कारो मे सुख का अनुभव करता है उस समय उसकी वह सुख संस्कारानुभूति है। किन्तु ये अनुभूति कायम नही रहेगी शास्त्र का नियम है कि **'चल हि गुणं वित्तम'** अर्थात् गुणवित्त हमेशा चल है, तमोगुण के शान्त होने पर रजोगुण या सतोगुण उदित होते रहते है इसलिये यह आवश्यक नही है कि इस सुख संस्कारोप-भोग वाला व्यक्ति हमेशा ही सुख संस्कारों का अनुभव करेगा। सुख संस्कारों का भोग काल समाप्त हो जाने के बाद उनकी स्मृति ही दुःखों का जनक बन जायेगी। इसलिये संस्कारों का बनना और बिगड़ना भी प्राणी के लिये दुःख का ही दाता है। दुःख संस्कार तो मनुष्य को दुःखानुभूति कराते ही है किन्तु सुख संस्कार भी सूक्ष्म तत्व जानने वाले योगीराजों के लिये दुःख के ही जनक होते है।

सहज दुखता—मनुष्य जन्म लेने के बाद मृत्यु पर्यन्त हजारों प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहता है जिसमे आध्यात्मिक **'आत्मानं स्वसंघातमधिकृत्य वर्त्तन इत्याध्यात्मिकं, तच्च द्विविधं शारीर मानसं च शारीरं व्याधादिजनितं मानसं कामादिजम्'** अर्थात् आत्मा के स्व संघात को अधिकृत करके जो दुःख आता है वह आध्यात्मिक दुःख कहलाता है। वह भी हमारे शास्त्र मे दो प्रकार का माना है-**शारीरं मानसं वा**, अर्थात शरीर से सम्बन्ध रखने वाला और मन से सम्बन्ध रखने वाले। दुःख हजारों प्रकार के संसार में देखने मे आते

है जिनकी गहरी चोट को पाकर मनुष्य मौत के घाट उतर जाता है। और उन पर काबू नही पाता और उसका जीवन काल भी मृतक के समान ही रहा करता है। हमने इस योग प्रचार के कार्यक्रमों में बहुत से इस प्रकार के दुःखी लोग देखे हैं जो हा–हाकार करते हुये मौत को हर समय पुकारते थे, दमे के रोगी, ताडन, तपेदिक के रोगी, हिस्टीरिया के रोगी, कैंसर के रोगी, अपनी जिंदगी के दिनों को अंगुलियों पर गिनते रहते हैं। किन्तु इतने गहरे दुःख को भोगते हुये भी ये लोग कठिन कर्म विपाक बस काल पुरुष को सामने नही देखते। थोड़ी बहुत जब दुःख निष्कृति दिखायी देती है तभी उनकी दुनियावी उलझने तत्काल घेर लेती है और उन उलझनों को उलझाते सुलझाते ही उनका अपना जीवन् काल का ग्रास बन जाता है।

एक उदाहरण–जिस समय हमने संवाई ग्राम में आकर योग प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। उसी पुराने समय की एक ब्राह्मणी की घटना हमें रह-रह कर याद आती है। यह देवी श्वांस रोग के घोर कष्ट से पीड़ित थी। उसका पति आश्रम में इलाज के लिये इसे लेकर आया।

अकस्मात जब वह उसे घोड़ी से नीचे उतार रहा था–उसी समय इसके शरीर पर श्वांस रोग का घात हुआ और देखते–देखते ही वह मृत्यु के समान लम्बे श्वांस लेने लगी, इसकी यह दशा बड़ी ही दयनीय थी और आँखों से देखी नही जाती थी, करुण क्रंदन हो रहा था, इसके पतिदेव के मन में स्वयं यह भावना थी कि इसका तत्काल ही प्राणान्त हो जाये अन्यथा किसी प्रकार इस व्याधि की निष्कृति हो जाये। अस्तु। यत्न किया गया और कई घंटे बाद वह देवी अपनी सहज स्थिति में आ पाई। जब वह अपनी चेतना को पा गयी तब हमने उससे पूछा कि ईश्वरानुग्रह से तेरा यह रोग हट जाये तो क्या तू परमात्मा का स्मरण किया करेगी, उसने हौसले के साथ उत्तर दिया कि हाँ महाराज जी यदि जिंदगी बच गयी तो संसार में और काम ही मुझको क्या है? उसके सद्भावों को देखकर यौगिक चिकित्सा के द्वारा उसका उपचार हुआ और वह बिल्कुल स्वस्थ हो गयी। उसने बड़े आग्रह के साथ मुझे अपने घर निमन्त्रण देकर बुलाया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि वही बुढ़िया अपने घरेलू कार्यों में इतनी व्यस्त है कि उसको १० मिनट बात की भी फुर्सत नहीं है। उसके आंगन में एक खटिया पड़ी थी जो बीच से कटी थी जिसमें वह ९ साल तक अनवरत पड़ी रही और कटी हुयी खाट का वह छिद्र ही उसके मलमूत्र का साधन था, जब मैंने उससे बात की कि देवी क्या तू ईश्वर का थोड़ा बहुत चिंतन किया करती है। तो उसने उत्तर दिया कि हाँ महाराज जी ये मेरी दो धेवती है इनकी शादी कर देने के उपरांत ही अब मै ईश्वर का भजन किया करूँगी। उसके बाद मेरा कोई काम शेष नही रहेगा। बेचारी बुढ़िया लड़कियों की शादी के स्वप्न देखती रही और देखते-देखते ही काल का ग्रास बन

गयी, इसी प्रकार कामादि मानस विकारों के अंदर मनुष्य जीवन भर सुख के स्वप्न लिया करता है। किन्तु वह नहीं समझ पाता कि वह विषैला कांटा है। काल कभी भी उसे खा जायेगा।

आधिभौतिक दुःख–व्याघ्र, शेर, भालू आदि से पैदा हुआ दुःख आधिभौतिक कहलाता है। और वह भी मनुष्य पर हर समय आक्रान्त ही रहता है। कह नही सकते किस समय प्राणी इस दुःख से आक्रांत होकर संसार से विदा हो जाये।

आधिदैविक दुःख–देवी के अधिकार पूर्वक जो दुःख मनुष्य को प्राप्त होते है वह आधि दैविक दुःख कहलाते है। जिसमें गृह नक्षत्रादि की पीड़ाओं से एवं सर्दी गर्मी आदि से जो दुःख होते हैं वह सभी अधिदैविक माने जाते है इससे मनुष्य प्रायः आक्रान्त ही रहता है। किन्तु दुःख सहने का इतना आदी बन जाता है कि वह इन दुःखों का दुःख समझ ही नही पाता।

गुण वृत्ति विरोध का दुःख–जिस सूत्र के इस लेख की पंक्तियाँ लिखी गयी है उसमें सबसे पिछला वाक्य है **'गुण वृत्ति विरोधाच्च दुखमेव सर्व विवेकिनः'** अर्थात्, कुछ दुःख परिणामी बताये गये, कुछ तापज बताये गये, कुछ संस्कारोद्भूत बताये गये और कुछ का आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवम् आधिदैविक रूप से दुःखों का निर्देशन कराया गया। उपरोक्त दुःख प्रायः सभी प्राणियों में व्याप्त रहते हैं किन्तु गुण वृत्ति विरोध का दुःख इस प्रकार का है जो बड़े और छोटे में पिता पुत्र में भाई और बहन में, गुरू और शिष्या में पति और पत्नी में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त दिखाई देता है। गुणवृत्ती विरोध का अर्थ है। परस्पर स्वभाव का न मिलना। पिता सात्विकी प्रवृती के है; पुत्र रजोगुण प्रधान है। परस्पर स्वभाव नही मिलता। पुत्र सतोगुण प्रधान है; प्रहलाद आदि की तरह पिता तमसाधिभूत है। हिरण्यकश्यप आदि की तरह परस्पर स्वभाव नहीं मिलता। यही नियम भाई बहन, पति-पत्नी आदि पर भी सामान्य रूप से लागू है। जिसके फलस्वरूप संसार के सभी प्राणी आज तक कभी भी एक मत नहीं हो पाये और न ही ऐसा आगे होने की कोई संभावना है। इस प्रकार से विवेक ख्याति प्राप्ति पुरुष के लिये सारा संसार दुःखमय ही है। मनुष्य को क्षुधा लगती है किन्तु क्षुधा निवृती का साधन प्राणी मात्र को अपने प्रारब्धानुसार उदर पूर्ति के लिये अन्न प्राप्त होता ही है। इसलिये उसको यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि भूख लगना भी एक दुःख ही है मनुष्य को प्यास लगती है किन्तु पिपासा निवृती का साधन सुमधुर जल हर जगह उपलब्ध है। अतः मनुष्य यह सोच भी नही पाता कि पिपासा भी एक दुःख ही है। किन्तु विवेक ख्याति प्रधान विशुद्ध मन वाले एक योगी के लिये यह सब दुःख ही दुःख है, उपर्युक्त पंक्तियों में संसार में होने वाले दुखों का दिग्दर्शन कराकर यह समझाया गया है कि संसार का हर क्रिया-कलाप हर घड़ी-क्षण दुःख रूप ही है। किन्तु अभी तक उस दुख का संकेत

इस लेख में नही किया गया है। जिसकी निवृती के लिये मनुष्य दृढ़ प्रतिज्ञ होकर जन्म लिया करता है। उस दुःख का नाम जन्म-मरण है। मनुष्य अपने जीवन काल में किसी भी प्रकार दुःखों का अनुभव करता रहता है। किन्तु सूर्य की रोशनी उसको दीखती है। वायु का सुखद स्पर्श उसको अनवरत हुआ करता है। अतः जीवन काल के कठिन दुःखों का अनुभव करके भी वह अपने आप को दुःखी नही समझता, क्योंकि उसको सुख के श्वांस आ रहे हैं। जिस समय मनुष्य के सिर पर मौत की घड़िया आती है। और उसके प्राण देह को छोड़कर अलहदा हो जाते है तब वह महाधंकार में घूमता हुआ यह सोचा करता है कि वह सूर्य कहाँ गया है। मेरे मकान कहाँ है जिनमें रहा करता था, मेरे भाई-बांधव कहाँ है जिनके हास-विलास में सब समय निकल जाया करता था। पता नही कि मै किस दुःख पंक में पड़ गया हूँ जिसमे से न मुझे दीखता है न किसी का शब्द सुनाई पड़ता है और न किसी का स्पर्श होता है न मेरी क्षुधा पिपासा की निवृती होती है अब मै क्या करूँ किसकी शरण लूँ, जिससे मै दुबारा उसी प्रकार से सब दृश्यो को देख व सुन सकूँ और पूर्व वत अन्न खा सकूँ जल पी सकूँ। किन्तु उसका यह सोचना मात्र रह जाता है। यही दशा इस प्रकार की हुआ करती है जिसके भय से भीत होकर मरणासन्न व्यक्ति के मुख में हमारे हिन्दु धर्म की रीति नियमानुसार मिट्टी के दिये से जल या गंगाजल डालते है। जिससे मरणासन्न व्यक्ति प्यासा न चला जाये और प्राणान्त हो जाने के बाद गत आत्मा पिपासा के दुःख से दुःखित घूमती न फिरे, ऐसा हो जाने के बाद भी पीपल के वृक्ष में जल का हंडिया बाँधने की रिवाज अपनी परम्परा है। जिससे गत आत्मा उस हंडिया के छिद्र से टपकती हुयी जल बूंदों के द्वारा अपनी पिपासा रूपी वासना की पूर्ती कर सके। देहावसान के बाद जिस समय देह का अग्नि संस्कार करके मनुष्य लौटा करते है उसी दिन संध्या के समय ब्राह्मण लोग वियुक्त आत्मा के लिये दीप दान कराया करते है और वे लोग कहा करते है।

गतात्मानो महान्धकार निवत्यर्थ दीपदानं च क्रियते। अर्थात् हम अपने उस गत आत्मा के अंधकार निवृत्यर्थ यह दीप दान कर रहे है। यह सब संकेत देहावसान के बाद एवं देहान्त सम्बन्ध काल के बीच में प्राणी की जो दशा हुआ करती है उससे ही सम्बन्धित होते है। इसी को मरण दुःख माना है इसके बाद जन्म लेने का दुःख इससे भी कही और अधिक भयंकर है जिसका वर्णन गर्भोपनिषद मे किया है।

ऋतु कालान्तर पहली रात्रि मे विकृत रस सा होता है। सात रात्रि बाद बुदबुदा होता है। आधे मास बाद पिण्ड बन जाता है, एक मास बाद वह कुछ कठिन सा हो जाता है, दो मास बाद सिर बन जाता है। तीन मास बाद प्रदेश, चौथे मास में गुल्फ, जानू, कटिप्रदेश, पाँचवे मास में तथा छटे

मास मे मुख, नासिकादि, सातवे मास मे सर्व लक्षण सम्पन्न हो जाता है, पिता के वीर्य की अधिकता से पुरुष और माता के रज की अधिकता से स्त्री और दोनो वीर्य की समानता से नपुंसक और व्याकुल मन होने पर कुब्जा कामन गठना हो जाता है और अन्योन्य वायु के परिपीड़न से और शुक्र के दो भागों में बटने से जोड़ा पैदा हो जाता है और सब कुछ हो जाने के बाद नवमा महिमा प्राप्त होने पर सर्व लक्षण ज्ञान कर्मों से पूर्ण हो जाता है।

अब वह पूर्व जाति को याद करता है शुभाशुभ कर्मों को पाता है। पूर्व की हजारों योनियों को देखकर भयभीत होता है और देख कर कहता है कि मैंने नाना प्रकार के आहार खाये अनेक प्रकार के स्तनों से दूध पिया, बार-बार जन्मा और मरा, अपने परिजनों के लिये जो मैंने शुभाशुभ कर्म किये उनके कारण मे अकेला जल रहा हूँ, वे सब फल भोगी लोग चले गये। ओह! मैं कैसे दुख सागर मे पड़ गया हूँ। इससे निकलने का कोई उपाय नही दिखाई देता। यदि अबकी बार मै इस योनिद्वार से निकल जाऊँगा तो मै महेश्वर भगवान की शरण लूंगा। जिससे वह मेरे पापों का नाश कर मुझे मुक्ति दे दें। यदि मै अबकी बार इस योनि द्वार से निकल गया तो नारायण की शरण लुंगा। जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो और मुक्ति मिल जाये, यदि मै अबकी बार योनि से बाहर निकल गया तो सांख्य योग का अभ्यास करूँगा। जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो और मुक्ति मिल जाये, यदि मै अबकी बार योनि द्वारा से निकल गया तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा।

जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश होकर मुक्ति मिल जाये। इस प्रकार विचार करता हुआ वह योनिद्वार को प्राप्त हुआ कोल्हू मे पिसते हुये के समान बड़े दुःख से जन्म ले पाता है और उसके बाद भगवान विष्णु की त्रिगुणात्मिका माया की वायु से स्पर्शित हुआ सब कुछ भूल जाता है। जन्म लेना और मरना उसको याद नही रहता। अपने शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगता है। गर्भोपनिषद के कथनानुसार जन्म लेने का वही दुःख माता के पेट मे मलमूत्र दुर्गन्ध को हर समय सूंघता है। माता किसी प्रकार से खट्टा या तीता पदार्थ खाये तो गर्भस्थ प्राणी जलने लगता है। यद्यपि मनुष्य का सारा जीवन दुःखमय ही है। किन्तु फिर भी जन्म मरण को हमारे शास्त्रों मे, महाभयंकर बतलाया है इसी से बचने के लिये सभी प्राणी प्रयत्नशील रहा करते है किन्तु कोई-कोई भाग्यवान जीव इस महादुःख पंक से बच पाता है मनुष्य का कर्तव्य है कि

या वत्स्वस्थमिदं देहं यावन्मृत्युश्चदूरतः
तावदात्महितं कुर्यात् मरणन्ते किं करिष्यति।

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है मौत की घड़ी दूर है तब तक मनुष्य को अपना भला कर लेना चाहिये। मौत सामने आ जाने पर कुछ नही हो सकेगा।

* * *

सम्पादकीय

योग साधना में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय

योग साधना के पथ पर चलते हुये योग साधक के मार्ग में अनेकानेक विघ्न आया करते है। ये विघ्न साधक को अपने पथ से पीछे धकेल देते हैं अथवा पदच्युत कर देते है। श्री पतंज्जलि जी महाराज ने योग दर्शन के समाधि पाद में इन विघ्नों का संक्षेप में एक सूत्र के द्वारा वर्णन किया है। जितने ये विघ्न योग दर्शन में गिनाये गये हैं ये इतने ही नही है और भी बहुत से विघ्न हैं जो सामान्य जानकार वर्णन में नहीं लाये गये है। यम-नियमादि के सम्यक् पालन के अभाव से उत्पन्न कई प्रकार के विघ्न हैं जो साधक की अर्जित कमाई को क्षण में ही नष्ट करा दिया करते हैं।

योग दर्शन में इन विघ्नों का वर्णन करते हुये-

'व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शना लब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया:''

कहकर नौ प्रमुख विघ्नों का संकेत किया है। इन्हें चित्त विक्षेपक होने के कारण अन्तराय अथवा विघ्न कहा जाता है। इन अन्तरायों में पहला अन्तराय है व्याधि। व्याधि का अर्थ है जो शरीर को कष्ट दे। यह शरीर के दोषयुक्त हो जाने पर, अथवा असामान्य हो जाने पर प्राणी के स्थूल शरीर को दुःख पहुँचने का नाम है। भगवान व्यास देव जी ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुये कह दिया है।

व्याधि धातु रसकरण वैषम्यम्'

अर्थात् शरीरगत धातु, रस एवं इन्द्रियों की विषमता का नाम व्याधि है।

हम जो भी खाते-पीते हैं उसका ही क्रम से रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र बनता है। ये सप्त धातु कहलाती है। शरीर में इन धातुओं का निर्माण ठीक-ठीक मात्रा में होना चाहिये। यदि कोई भी एक धातु न्यूनाधिक्य रूप में बनने लगता है तो वह रोग कहलाता है। इसी को धातु की विषमता कहते है। भुक्त-पीत अन्न जलादि

को रस, रक्त आदि धातुओं मे परिणत करने मे जठराग्नि ही प्रधान कारण रहता है। जब यह अग्नि समुचित रूप मे प्रज्वलित रहकर काम करती है तो धातुयें ठीक-ठीक मात्रा मे बनती हैं और यदि यह अग्नि मन्द पड़ जाये तो रस रक्त आदि का निर्माण ठीक प्रकार से नही हो पाता, ये धातुयें बेतरतीब मात्रा मे बनने लग जाती है। इस जठराग्नि का शास्त्रीय नाम **वैश्वानर अग्नि** है। जीवों के जीवन मे इस अग्नि की ही अहम् भूमिका है। इस अग्नि के रूप में ही ईश्वर सभी जीवों मे प्रतिष्ठित रहते है। भगवान गीता मे कहते है-

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रिता
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।

अर्थात्-मैं प्राणियों के देह मे वैश्वानर अग्नि रूप बनकर खाये-पीये अन्नादि को प्राणापान से युक्त होकर पचाता हूँ। यह अग्नि ही जीव का प्राणाधार है। यह जितनी ठीक काम करेगी मनुष्य उतनी ही लम्बी आयु एवं स्वास्थ्य को धारण करता है। इस अग्नि के क्षीण अथवा मन्द हो जाने पर रस, रक्तादि का ठीक परिपाक न होने के कारण उनमें दूषणता आ जाती है। परिणाम स्वरूप कफादि दोष उत्पन्न हो जाते है और रक्ताल्पता आदि उपद्रव प्रारम्भ हो जाया करते है, अस्तु।

योग साधना मे विघ्न के रूप में सर्वप्रथम व्याधि का नाम आता है। आयुर्वेद मे व्याधि के कारणो मे प्रज्ञापराध को भी एक कारण माना जाता है।- जानबूझ कर किये गये दुष्कर्म का विपाक अवश्य मिलता है और वह व्याधि अर्थात् रोग के रूप में मिला करता है। आगन्तुजादि कारणों से हुई व्याधियों का निवारण सामान्य उपाय या उपचार से हो जाया करता है किन्तु प्रज्ञापराध जन्य क्लिष्ट कर्मों से मिले रोगों का निवारण औषधियों से भी नही हुआ करता है। आयुर्वेद के महर्षियों ने ऐसे रोगो मे रुग्ण व्यक्ति को सदाचार, जप-तप, देवार्चन समाधियोग ईश्वर चिन्तन, गुरू एवं गौसेवा का उपदेश दिया है। **'भोगायतनं हि शरीरम्'** के नियमानुसार स्थूल शरीर प्राक्तन कर्म भोग एवं नवीन कर्म सम्पादन के लिये मिलता है। प्राक्तन् दुष्कर्मों के परिहार के लिये नवीन शुभ कर्म किये जाये तो वे दुष्कर्म निष्क्रिय हो जाने के कारण दुष्परिणाम अथवा क्लेश नही दिया करते है। क्लिष्ट कर्म भोग के अनुसार ही रोग उत्पन्न होकर इन्द्रियों की शक्ति को भी क्षीण अथवा दूषित कर दिया करते है इसे ही करण वैषम्य कहते है इस प्रकार की विषमता से मनुष्य की इन्द्रियाँ ठीक प्रकार से ज्ञान को ग्रहण नही कर पाती।

आजकल के बदलते वातावरण में प्रायः व्यक्ति चाय, तम्बाकू इत्यादि नशीले पदार्थों का कीड़ा बनता जा रहा है। इन विषाक्त पदार्थों के प्रयोग से मनुष्य का शारीरिक ढाँचा अवश्य ही असन्तुलित व विकृत होता चला जा रहा है। इसी से आज व्यापक

रूप से कब्ज, एसिडिटी जुकाम, खाँसी, अपच एवं एलर्जी आदि बीमारियाँ फैलती जा रही है। ये सामान्य बीमारियाँ ही कालान्तर में उग्र रोगों की जननी हो जाया करती है। अत: योग साधकों को आहार-विहार में सावधान रहना चाहिये। योग शास्त्र में शरीर में बीमारियाँ न पलने पायें इसलिये घर शोधन का विधान बताया गया है। यौगिक षटकर्म के अभ्यास से शरीर मे संचित मल दूर कर दिये जाते है। मल के अधिक मात्रा मे संचित हो जाने पर मन एकाग्र नही हुआ करता है। इसलिये षटकर्मों के अभ्यास से आशयगत मल दूर निकाल दिये जाते है किन्तु नाड़ीगत संचित मल षटकर्मों से भी पूर्ण रूप से नही निकल पाते। इसके लिये योगासन बन्ध-मुद्रायें एवं प्राणायाम का उपाय विहित है। इन साधनों के करने से नाड़ियों पर दबाव पड़ने से वे क्रियाशील हो जाती है। पसीने आदि के साधक को छोटी-मोटी बीमारियों में यथासंभव ऐलोपेथी दवाओं से बचना ही चाहिये इसके स्थान पर आयुर्वेदिक उपचार कराना चाहिये। अंग्रेजी दवाइयों के सेवन से आँतों में विकार आ जाया करता है। पाचन शक्ति खराब हो जाती है। अल्सर आदि रोग हो जाया करते है।

बीमारियों को दूर करने के लिये जहाँ एक ओर औषधियों का प्रयोग किया जाता है। वहाँ दूसरी ओर हमारे योगाचार्यों ने मन की एकाग्रता को भी बीमारियों को दूर करने का एक ठोस साधन बताया है। गुरूदेव योगिराज अनन्त श्री चन्द्र मोहन जी महाराज अपने मुखारबिन्द से प्राय: कहा करते थे कि बीमारियाँ तमोगुण में होती है। सतोगुण की वृद्धि मे ये दूर भाग जाती है। इसलिये साधक को अपने आप को सत्वस्थ बनाना चाहिये। गीता में भगवान ने इसी बात का संकेत देते हुये बताया है-

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनायम्'

अर्थात्-सत्वगुण निर्मल होने से प्रकाश को करने वाला होता है इसमें किसी प्रकार की बीमारी नही रह सकती। आयुर्वेद में कुछ रोगों को राक्षसी शक्ति के प्रभाव के रूप में माना जाता है। ये तामसी शक्ति कीटाणु रूप बनकर शरीर मे प्रविष्ट हो जाया करते है। सतोगुण की वृद्धि से इस प्रकार की शक्तियाँ ही टिक सकती। उपनिषदों में रोगों को दूर करने के लिये विविध धारणाओं का उल्लेख किया गया है। एक मुख्यधारणा का प्रयोग बताते हुये कहा गया है 'सर्वरोग निवृत्ति स्यात् नाभि मध्ये धारणात' अर्थात् नाभिमध्य में ध्यान करने से सब रोग दूर होते है। नाभिमण्डल में ही समस्त नाड़ियों का गुच्छा बना हुआ है। इसीलिये ही समस्त शरीर के रोग नाभिमध्य के ध्यान से दूर होने की बात कही गयी है।

आजकल भी रोगों के उपचार के रूप में बहुत सी नई-नई पद्धतियाँ प्रचलन में आ रही है। उनमें भी धारणा का ही प्रयोग देखा जा सकता है। उदाहरण के रूप मे नई

(जापानी) चिकित्सा पद्धति **'रेकी'** का प्रचार हो रहा है। यह स्पर्श चिकित्सा है इसमें भी चिकित्सक अपनी धारणा शक्ति का प्रयोग कर रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः हमारे उपनिषदों और वेदों में सारा ज्ञान छुपा है। आज हम लोग उनकी ओर दृष्टि नही डाल पाते जबकि विदेशी लोग इन पर सफल प्रयोग कर इन्हे प्रसारित कर रहे हैं।

व्याधियों को दूर करने के लिये हमारे परम गुरूदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने अपनी प्रज्ञा से अलौकिक नौ क्रियाओं का सृजन किया है। रोगों को दूर करने की अद्‌भुत शक्ति इनमें है। इन क्रियाओं को करने से शरीर की वैश्वानर अग्नि अति दीप्त हो जाती है। हमारे आश्रमों में रोगों की निवृत्ति के लिये इनका सफल प्रयोग पुराने समय से होता चला आ रहा है। इन क्रियाओं को करते हुये प्रायः मोटे अन्न का त्यागकर फल, सब्जी, कच्ची दालों आदि का ही प्रयोग किया जाता है। ये क्रियायें कायाकल्प क्रिया के रूप में हमारे आश्रमों में सुप्रसिद्ध हैं। कायाकल्प का अर्थ है शरीर का दीर्घकाल तक युवा तथा रोग रहित होना। इन क्रियाओं के अभ्यास से वैश्वानर अग्नि के सुमुदीप्त रहने से मनुष्य सुदृढ़ व स्वस्थ शरीर धारण कर निर्विघ्न रूप से लम्बे समय तक साधनारत रह सकता है। इन क्रियाओं से बीमारियाँ तो दूर होती ही है किन्तु साथ-साथ साधक मन की एकाग्रता को भी प्राप्त करता चला जाता है। शनैः-शनैः समाधि की ओर बढ़ने लगता है। इन क्रियाओं के अभ्यास से सुप्रसन्न वैश्वानर अग्नि के प्रभाव से साधक में नित नई-नई कोशिकाओं का सृजन होता चला जाता है। यही काया कल्प का विज्ञान है। सामान्य अवस्था में मनुष्य की प्रौढ़ावस्था हो जाने पर नई कोशिकायें बननी बहुत कम हो जाती है। इससे वह वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। इन क्रियाओं के करने से कोशिकाओं का सृजन होता रहता है।

इन क्रियाओं को करते हुये ही हमारे परम गुरुदेव जी ने इन क्रियाओं के साथ धारणाओं का भी समावेश किया है। इन क्रियाओं में एक क्रिया है **बाल ध्यान**। इस ध्यान में साधक को बाल्यावस्था के रूप की धारणा करनी होती है जिसके फलस्वरूप उसमें स्वाभाविक निर्मल एवं बाल सुलभ गुणों का आधान हो जाया करता है। इसके साथ-साथ उन्होंने अमर तत्व, फलतत्व, प्राणतत्व आदि अनेक गुप्त साधनायें अधिकारियों को बताये हैं इनमें भी धारणा को दृढ़ करने, रोगों को दूर करने की अद्‌भुत सामर्थ्य है। इन सब में उत्कृष्ट मानसिक चेतना का ही प्रभाव रहा करता है। अस्तु!

इस प्रकार से उपर्युक्त साधनों पर चलकर साधक को अपने शरीर को व्याधिमुक्त रखने का प्रयत्न करना चाहिये ताकि **'स तु दीर्घ काल मैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ भूमिर्भवति'** के पातंजल सिद्धान्त पर आरुढ़ रह कर साधनारत रह सकें।

जपयज्ञ अथवा मन्त्रयोग

पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

भारतीय संस्कृति अनादिकाल से योग से प्रभावित एवं जीवित रही है। कर्मकाण्ड इसका आधार है, जो कि योग का एक अभिन्न अंग है। हिन्दुओं के सोलह संस्कार तथा प्रत्येक प्रकार के यज्ञ, त्रिकाल सन्ध्या, तर्पण इत्यादि सभी धार्मिक कृत्यों मे जप का महत्वपूर्ण स्थान है। कोई भी धार्मिक कृत्य बिना जप के सम्पन्न नही होता। यहाँ तक कि-क्रूर ग्रहों की शान्ति के लिए मन्त्र जप का ही सहारा लिया जाता है। कर्मकाण्ड की इस परम्परा को ही योग में ईश्वर प्रणिधान की संज्ञा दी गई है।

योगदर्शनकार भगवान श्री पतञ्जलिदेव ने **"ईश्वरप्रणिधानाद्वा"** कहकर ईश्वर की अनन्य शरणगति को अष्टाङ्गयोग का एक महत्वपूर्ण अंग माना है। 'ईश्वर प्रणिधान' की व्याख्या करते हुए पुन: योगदर्शन मे कहा गया है-

तस्य वाचक: प्रणव:।

अर्थात्- उस ईश्वर का वाचक प्रणव (ॐ) है। अत: ईश्वर का वाचक ओंकार तथा गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों का जाप, श्रौत तथा स्मार्त ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन, भगवद् भजन एवं कीर्तन तथा परम प्रभु के प्रीत्यर्थ श्रद्धा पूर्वक किया जाने वाला प्रत्येक आचरण ईश्वर प्रणिधान कहा जा सकता है।

प्रस्तुत लेख मे मैने मन्त्रजप की महिमा पर प्रकाश डाला है। मन्त्रजप की क्या उपयोगिता है एवं उसकी क्या विधि है ? इस प्रश्न का समाधान योगदर्शन समाधिपाद के २० वें सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

तज्जपस्तदर्थ भावनम्।

ईश्वर के नाम का जप करते हुए उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिये। अर्थात्- जापक को चाहिए, कि वह मन्त्र जाप करता हुआ मन्त्रार्थ में अपने इष्ट की भावना रखे और उसका सतत् चिन्तन करता रहे। ऐसा करने मे शनै:शनै मन एकाग्र होता जाता है। और जप ध्यान मे परिवर्तित हो जाता है। मन्त्र मे अक्षर बुद्धि रखना शास्त्र विरुद्ध है। उसे तो ईश्वर का प्रतीक समझना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम जप से यथेष्ठ लाभ उठा सकते है।

मन्त्र चाहे ओंकार हो या ईश्वर का वाचक कोई अन्य नाम, वह अनन्त शक्तिमान होता है। जिसका भी बोध वह मन्त्र कराता है, उनकी सभी शक्तियाँ उस मन्त्र अथवा नाम में निहित होती हैं। शास्त्रों में मन्त्र का महिमागान मुक्त कण्ठ से किया गया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री रामचरित

मानस में 'नाम जप' की महिमा का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया है। उसमें से कुछ चौपाइयाँ निम्न प्रकार से हैं:-

योगीजन मन्त्र जप करते हुए अनिर्वचनीय तथा अनुपम ब्रह्मसुख का अनुभव करते हैं। जैसे-

नाम जीह जपि जागहि योगी,
विरति, विरंचि, प्रपंच वियोगी।
ब्रह्मसुखहिं अनुभवहि अनूपा,
अकथ अनामय नाम न रूपा।।

यदि साधक एकाग्र मन से श्रद्धा पूर्वक जप करे, तो निस्संदेह वह अणिमादिक सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ,
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
साधक नाम जपहिं लय लाये,
होहिं सिद्धि अणिमादिक पाये।।

महान् विपत्ति में भी यदि मनुष्य विश्वास पूर्वक प्रभु के नाम का जप करे तो उसके सभी संकट मिट जाते हैं।

जपहिं नाम जन आरत भारी,
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।

यद्यपि चारों युग नाम जप से प्रभावित है, किन्तु कलियुग के लिए यह विशेष प्रभावशाली है।

चहुँयुग चहुँश्रुति नाम प्रभाऊ।
कलि विशेष नहि आन उपाऊ।

शरीर धारी श्रीराम ने तो ऋषिपत्नी अहिल्या का ही उद्धार किया, किन्तु राम नाम ने तो करोड़ों पापियों का उद्धार कर दिया।

राम एक तापसतिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी।।

भगवान राम ने भालुओं तथा बन्दरों की सहायता से बड़े परिश्रम पूर्वक समुद्र में सेतु बन्धन किया, किन्तु प्रभु नाम के स्मरणमात्र से ही योगीजन भवसागर को सुखा ही डालते है :-

राम भालु कपि कटक बटोरा।
सेतुहेतु श्रम कीन्ह न थोरा।।
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।
करहु विचार सुजन मनमाहीं।।

नाम जप के प्रभाव से भगवान शंकर अविनाशी हैं तथा अमंगल वेष-भूषा से युक्त होते हुए भी मंगलों की राशि हैं। शुभ-सनकादि सिद्ध पुरुष, मुनि तथा योगीजन नामजप के प्रभाव से ब्रह्म का अनुभव करते हैं।

नाम प्रसाद शम्भु अविनाशी।
साज अमंगल मंगलराशी।
शुक सनकादि सिद्ध मुनि योगी।
नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी।।

पवन-पुत्र श्री हनुमान ने नाम जप के प्रभाव से भगवान राम को अपने वश में कर लिया। अजामिल, गज तथा गणिका नामजप के प्रभाव से मोक्ष को प्राप्त हुए।

सुमिरि पवनसुत पावन नामू।
अपने वश करि राखेउ रामू।।
अपर अजामिल, गज, गणिकाऊ।
भये मुक्त हरिनाम प्रभाऊ।।

नाम जप की कहाँ तक प्रशंसा की जाये, स्वयं राम भी अपने श्रीमुख से इसकी महिमा का वर्णन नहीं कर सकते।

कहहु कहाँ लगि नाम बडाई।
राम न सकहिं नाम गुण गाई।।

सभी देवता यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश हमेशा मन्त्र के वश में रहते है। इस बात की पुष्टि मानस में धनुष यज्ञ के अवसर पर निम्न दोहे से की गई है :-

मन्त्र परम लघु जासु बस,
विधि, हरि, हर सुर सर्व।

शबरी की नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् राम मन्त्रजाप में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहते है-

मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा।
पंचम भजन से वेद प्रकाशा।।

जगदात्मा श्री कृष्णचन्द्र ने श्री मद्भगवत गीता में प्रणव को ईश्वर का नाम तथा इसके जप को श्रेष्ठतम जप बतलाया है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो,
ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च,
यज्ञाश्च विहिता पुरा।।

-गीता १७/२३

हे अर्जुन ! 'ॐ' तत, सत् ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है। उसी से सृष्टि के आदिकाल में, ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ,
दान तपः क्रिया।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः।
सततं ब्रह्मवादिनाम्।

गीता १७/२४

इसलिए ब्रह्मवादी पुरुषों द्वारा शास्त्र-विधि से नियत यज्ञ, दान और तप रूप क्रियायें सदा 'ॐ' ऐसे इस ईश्वर के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म,
व्याहरन्मामनुस्मरन्,
यः प्रयाति त्यजन्देहं,
स याति परमां गतिम्,

-गीता, २/१३

अर्थात्-जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ तथा उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

"गिरामस्म्येकमक्षरम्"

ऐसा कहकर योगेश्वर श्री कृष्ण ने 'ॐ' को साक्षात् ब्रह्म बताया है तथा इसी श्लोक के अगले पाद में **"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"** कहकर जप की अपार महिमा का मण्डन किया है।

कठोपनिषद में जप को ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया गया है। यम नचिकेता को ब्रह्मविद्या का रहस्य बताते हुए कहते है :-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेणाब्रवीम्योमित्येतत्।

सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का बार-बार प्रतिपादन करते है और सम्पूर्ण तप जिस पद की प्राप्ति के साधन है; जिसके चाहने वाले साधक गण ब्रह्मचर्य आदि कठोर नियमों का

पालन करते हैं, उस ईश्वर का परम तत्व में तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ।

वह है-'ॐ' यह एक अक्षर। कठो० २/२/१५

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म,
एतद्धयेवाक्षरं परम्।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा,
यो यदिच्छति तस्य तत्।

यह अक्षर ही ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसलिए इसी अक्षर को जानकर जो जिसको चाहता है, उसे वह अवश्य मिल जाता है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठं,
एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा,
ब्रह्मलोके महीयते,

यह 'ॐ' ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धा पूर्वक इस पर निर्भर करता है, वह निस्संदेह ईश्वर की प्राप्ति का परम लाभ प्राप्त करता है।

प्रश्नोपनिषद् पंचम प्रश्न में भी इसी बात की पुष्टि की गई है।

मन्त्रजप योगसिद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन है। योग की परिभाषा करते हुये योग-दर्शन में कहा गया है :-

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः

अर्थात् :-चित्तवृत्तियों का सर्वथा रुक जाना ही योग है। चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है।

भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्त्तन, मनन, श्वांस-प्रश्वांस से मन्त्रजप तथा भगवत्प्राप्ति विषयक ग्रन्थों का पठन-पाठन इत्यादिक चेष्टायें बार-बार करने का नाम अभ्यास है।

गीता में भी इसी बात का प्रतिपादन किया गया है।

अथ चित्तम् समाधातुं न
शक्नोषि मयि स्थिराम्,
अभ्यास योगेन ततो-
मामिच्छाप्तुम् धनञ्जयः

अर्थात् :- हे अर्जुन ! यदि तू मन को मेरे में अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है। तो अभ्यास रूप योग के द्वारा मेरे को प्राप्त होने के लिए इच्छा कर।

ईश्वर की प्राप्ति के निमित्त लिये जाने वाले जप तप आदि सभी पावन कृत्यों को **"योगदर्शन"** में साधन योग अथवा क्रियायोग की संज्ञा दी गयी है।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः

तप, स्वाध्याय और ईश्वर की शरणगति ये तीनों क्रियाऐं योग है।

तप

अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना, विविध व्रत उपवासादि करना, यम-नियमों का पालन करना, मौन रहना एकान्त सेवन, मानसिक जप, शास्त्रों का अध्ययन तथा इन्द्रिय निग्रह तप कहलाता है। तपाचरण से अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण की शुद्धि पर ही योगसिद्धि निर्भर करती है।

स्वाध्याय

जिनसे, अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का बोध हो सके, ऐसे वेद, शास्त्र, महापुरुषों के लेख आदि का पठन-पाठन और भगवान

के 'ॐ' आदि किसी नाम या गायत्री का तथा किसी भी इष्ट देवता के मन्त्र का जप करना स्वाध्याय है।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वर की अनन्य शरणागति का नाम ईश्वर प्रणिधान है। उसके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण और मनन करना अपने समस्त कर्मों को भगवान के समर्पण कर देना एवं हर परिस्थिति में प्रसन्न रहना-इस प्रकार का प्रत्येक आचरण ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

क्रियायोग के पूर्वोक्त तीनों अंगों अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान में नामजप की साधना पर विशेष बल दिया गया है। नामजप की साधना से मनुष्य से अविद्यादि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और साधक का अन्तःकरण सर्वथा विशुद्ध हो जाता है। जप के प्रभाव से योगमार्ग के सभी विघ्न अनायास ही नष्ट हो जाते हैं। जिससे साधक उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। यही कारण है कि अनुभवी सद्गुरुदेव साधक को मन्त्रजप का उपदेश देते हैं। क्योंकि मन्त्रजप योग का मूल है और वह मृदु, मध्यम तथा तीव्र संवेग सम्पन्न तीनों श्रेणी के साधकों के लिए उपयोगी है।

साधारणतया जप करते समय हम लोग मन्त्र के अर्थ की ओर ध्यान नहीं देते और न अपने इष्ट का चिन्तन करते हुए मन को एकाग्र करने का प्रयत्न ही करते हैं। एक ओर जप चलता रहता है और दूसरी ओर मन विषयों का चिन्तन करता रहता है। हमारा इस ओर ध्यान भी नहीं जाता कि हम उस जप के माध्यम से ईश्वर से क्या प्रार्थना कर रहे हैं ?

किन्तु योग साधना में जहाँ विविध क्लेशों एवं विघ्नों के निवारणार्थ जप का सहारा लिया जाता है, वहाँ साधक का वास्तविक उद्देश्य मन की एकाग्रता ही है। ईश्वर का वाचक नाम अथवा मन्त्र, ईश्वर का स्वरूप तथा हमारा मन ये तीनों एक रूप हो जायें, यही वास्तविक जप है। अर्थात् जपकर्ता को ईश्वर का वाचक नाम तथा उसके स्वरूप का सतत् चिन्तन होता रहे। इसके अतिरिक्त उसे अन्य कुछ भी प्रतीति न रहे, यहाँ तक कि उसे अपने स्वरूप का भी आभास न होने पाये। यह स्थिति ध्यान स्थिति कहलाती है, जो कि शनैः शनैः समाधि में परिवर्तित हो जाती है।

योगशास्त्र में प्रतिपादित नियमों के अनुसार साधक को किसी एकान्त और पवित्र स्थान पर एकासन पर बैठकर जप का अभ्यास करना चाहिए। आसन जमाने पर उसका मेरुदण्ड, छाती, गर्दन तथा सिर बिलकुल सीधे एकसूत्र में रहें। इस प्रकार बैठकर उसे ईश्वर का चिन्तन करते हुए श्वास-प्रश्वास से उपांशु जप करना चाहिए। आलस्य तथा तन्द्रा की स्थिति में वाचिक जप भी किया जा सकता है।

जप कोई साधारण क्रिया नहीं है। यह एक उत्कृष्ट योगविज्ञान है, जो कि मन और बुद्धि के साथ-साथ साधक की इन्द्रियों पर भी अपना चमत्कारपूर्ण वैज्ञानिक प्रभाव डालता है। ज्योंही साधक शास्त्रोक्त विधि से जप आरम्भ करता है उसके मस्तिष्क पर एक प्रकार का कम्पन होता है। क्योंकि यह प्रकृति का नियम है, कि जहाँ शब्द होगा वहाँ कम्पन भी अवश्य होगा। इस कम्पन से साधक की सभी ज्ञानतन्तुएँ उस

ओर आकर्षित हो जाती है। शरीर की सभी नस-नाड़ियों पर एक प्रकार की विद्युत-तरंगे सी संचारित होने लगती है। और मन ध्येय विषय में केन्द्रित हो जाता है। उचित रीति से जप का अभ्यास करने पर सुषुम्ना में प्राणवायु की गति होने लगती है और इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

मन्त्र का षटचक्रों के साथ एक अभेद्य सम्बन्ध है। उदाहरणतया वर्णमाला में कुल ४६ वर्ण होते है इन्हीं वर्णो से मन्त्र की रचना होती है। आज्ञाचक्र को छोड़कर शेष चक्रों में स्थित कमलदलों की संख्या भी ४६ ही होती है।

मूलाधार –	(चतुर्दल कमल)
स्वाधिष्ठान –	(षटदल ,,)
मणिपूरक–	(अष्टदल ,,)
अनाहत –	(द्वादशदल ,,)
विशुद्ध–	(षोडषदल ,,)
	कुल ४६ दल

मन्त्र चाहे कोई भी क्यों न हो उसे छोटा या बड़ा नही कहा जा सकता। प्रत्येक प्रकार का मन्त्र मनुष्य को भोग और अपवर्ग प्रदान करने की विलक्षण शक्ति रखता है। गुरुमुख से सुना हुआ मन्त्र विशेष प्रभावकारी होता है।

मन्त्रजप ईश्वर प्राप्ति का एक सरल और उत्तम साधन है। सकाम भाव से किया गया जप जहाँ भोग और ऐश्वर्य का प्रदाता है; वही निष्काम भाव से किया गया जप साधक को योगसिद्धि एवं तदनन्तर मोक्ष प्रदान कर देता है। जप चाहे किसी भी दशा में किया जाये उससे लाभ ही लाभ है। श्री रामचरित मानस में यहाँ तक कहा गया है-

नाम जपत मंगल दिशि दशहूँ।।

परमेश्वर की प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले जितने भी साधन है, जितनी प्रकार की भी उपासनायें है उन सबको गीता के चौथे अध्याय मे योगयोगेश्वर श्री कृष्ण ने यज्ञ के नाम से वर्णन किया है। जैसे-

द्रव्यय ज्ञास्तयो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशित व्रताः।।

कई मनुष्य द्रव्य सम्बन्धी यज्ञ करने वाले है, अर्थात् पुण्य के कार्यों में अपने धन का सदुपयोग किया करते है, कई व्यक्ति तपस्यारूप यज्ञ करने वाले हैं, दूसरे कई व्यक्ति योगसाधना रूप यज्ञ करने वाले है तथा कितने ही अन्य व्यक्ति यम नियमों का पालन करते हुए स्वाध्याय (मन्त्रजप) रूप ज्ञान यज्ञ को करने वाले है।

भगवान आगे कहते है :-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।

द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। क्योंकि सब प्रकार की साधनाओं, उपासनाओं की अन्तिम श्रेणी ज्ञान ही है। उसकी प्राप्ति के अनन्तर अन्य कुछ भी प्राप्तव्य शेष नही रह जाता।

गीता के दशम अध्याय में अपनी यौगिक विभूतियों का वर्णन करते हुए परम योगी श्री कृष्ण ने **यज्ञानां जपयोऽस्मि** कहकर जपयज्ञ को सब प्रकार के यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ बताया है।

इस प्रकार योगमार्ग में प्रगति का सर्वोत्कृष्ट साधन मन्त्रजप ही है।

* * *

ध्यानयोग की महत्ता

—डा० विजय सिंह

अब समष्टि रूप में सर्वत्र विद्यमान हमारे सद्गुरु भगवान की महती कृपा का वे साधक अधिकाधिक अनुभव प्राप्त कर रहे है जो अपने ध्यान की साधना मे तत्परता से जुटे हुये है। श्री सद्गुरु जी के शक्तिपात एवं सजीव मंत्र के प्रभाव से सभी पात्र साधकों को अपने अभ्यान्तरिक जीवन के अनुभव हुये है। श्री मुख से सदैव ध्यान करने का प्रोत्साहन मिलता रहा है। वे परिपूर्ण सिद्ध हम सभी को उत्साहित करने हेतु ही यह कहा करते थे कि "देखो जो कुछ आज मै हूँ वह श्री महाप्रभुजी के इस आदेश पालन के फलस्वरूप हूँ कि प्रात: ५ से ७ बजे तक अवश्य-अवश्य ध्यान करते रहना।"

आत्मानुभूति के सहायक सप्तम सोपान के रूप में ध्यान को ही भगवान पतंजलि ने बताया है। जो बिना ऊबे हुये, सदा सावधान आलस्य रहित रहकर नियम पूर्वक ध्यानाभ्यास करते हैं वे ही यथार्थत: श्री प्रभुजी के कृपापात्र साधक है। जिनके नियम ढीले है, वे बातों की बारात तो खड़ा कर सकते है परन्तु सत्य से परे ही उनकी जीवन-गतियाँ हुआ करती है।

ध्यान क्या है ? वृत्तियों को ध्येय में भली प्रकार ध्येयाकार हो जाना ही ध्यान है। जितने समय तक यह अवस्था रहेगी उसी को ध्यान कहा गया है। ध्यानी को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस बात की भी स्फुरणा मन में वही हो रही है, जो श्री गुरुदेव भगवान बराबर अपने प्रवचनों मे बताया करते थे।

सिद्धयोग के साधकों का ध्यान का मूल मंत्र- श्री गुरुदेव और उनके वचनों में प्रत्यक्षवत् विश्वास। इस विश्वास से ही साधक में अभ्यास एवं आन्तरिक वैराग्य (बाह्य दिखावा नही) का उदय होता है। ज्यों-ज्यों मन अन्तर जगत में निमग्न होता जाता है, साधक में दैवी सम्पदा की अभिवृद्धि भी उसी मात्रा में स्वभावत: प्रकट होती हैं। साधक में साधन के प्रति तत्परता, अहिंसा, सत्य, तप, स्वाध्याय एकान्तवास की भावना बढ़ती जाती है। दैवी सम्पदा के बढ़ने से साधक के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा और लगाव में भी भारी वृद्धि होने लगती है। श्री प्रभुजी सावधान करते थे-साधकों को गप्प-सप्प से दूर रहना चाहिए। मान-प्रतिष्ठा की भूख इस समय अधिक जगती है। अत: परनिन्दा-रस एवं स्व-प्रतिष्ठा का आग्रह नहीं होना चाहिए।

जिनको ध्यान की सफलता प्राप्त है उन्हे यथा साध्य मौन रहना चाहिये तथा प्रकृतस्थ अवस्था में योग ग्रंथों का स्वाध्याय अथवा गुरूप्रदत्त मंत्र का निरन्तर सप्रेम जप करने से अन्तरायों से बचाव होता है। आहार-विहार का विशेष ख्याल ध्यानी को रखना होता है। अधिक जागना, अधिक भोजन करना या अधिक सोना वा निराहार रहना भी ध्यानी के लिये ठीक नहीं है। श्री प्रभुजी युक्ताहार युक्तचेष्टस्य कर्मसु, युक्तस्वप्नबोधस्य **योगो भवति दु:खहा।।** पर आवश्यक जोर देते थे। जिन्हें चाय, तम्बाकू आदि नशीली

चीजें की लत है उनकी मानस एकाग्रता सफलीभूत नहीं होती है। ध्यानी को नियत स्थान पर, नियत समय, नियत काल तक, नियत आसन पर बैठकर मंत्रजप एवं ध्यान करना अभिष्ट है। इसे ही **"नियमानुवर्तिता"** बताकर श्री प्रभुजी अपने साधकों को इसके पालन के लिये आदेश देते रहे हैं।

श्री प्रभुजी हम सभी को ध्यान हेतु स्थान, काल और आसन का भी उपदेश देते रहे है। ध्यानी को एकान्त, पवित्र नदीतट अथवा अपना पूजा कक्ष जिसमें उत्तम ढंग से श्री महाप्रभु जी का स्वरूप विराजमान करके धूप-दीप से आलौकिक सुबह-सायं आरती पूजन होता हो ऐसा एकान्त कक्ष में ध्यान लगाना चाहिये।

ध्यान के लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल जिसे पाँच से सात प्रातः मौसम के अनुसार श्री प्रभुजी कहा करते थे। क्योंकि इस समय हिमालय के सिद्धों की दृष्टि सात्विक रहा करती है। बैठने का आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो "चैलाजिन कुशोचरम" अथवा ऊनी, रेशमी आसन प्रयोग करना चाहिये। सुखासन, स्वस्तिक पद्मासन से ही ध्यान करने पर चित्त जल्दी समाहित होता है।

प्रतिदिन तीन घण्टे ध्यान साधक करे तो सर्वोत्तम, नहीं तो कम से कम एक घण्टे तो अवश्य ही ध्यानाभ्यास करना चाहिये। ऐसा ही श्री प्रभु का आदेश रहा है। ध्यानाभ्यास में शरीर, मस्तक और ग्रीवा सीधा होना चाहिए रीढ़ की हड्डी सीधी रहे।

प्रारम्भ में मूलाधार अवस्थित भगवान इष्टदेव का धारण करते हुये इष्ट मंत्र का श्वाँस-प्रश्वास से जप करने पर दो तीन माह में धारण पुष्ट होकर ध्यान वृत्ति जाग जाती है। ध्यान के चल पड़ने पर कभी-कभी साधकों को इष्ट देव के स्थान पर सद्गुरु वा कोई अन्य देव के दर्शन होने लगे तो विचलित नहीं होना चाहिये अपितु द्रष्टावत दर्शन का आनन्द उठाना चाहिये।

अपने सद्गुरु एवं इष्ट में ही सर्वशक्तिमानों को आरोपित समझना चाहिये। ध्यान में दीखने वाली दिव्य सगुण मूर्तियों में श्रद्धा एवं सत्य भावना होने से बुद्धि परमार्थ को शीघ्र धारण करने वाली बन जाती है। चित्त ज्यों ज्यों ध्येयाकार होता है, त्यों-त्यों ध्यान की प्रगाढ़ता होती है। ध्यान की धारणा की एक देशीय चित्त की एकाग्रता के फलःस्वरूव अभ्यान्तरिक दृष्य वाह्य जगत में भी दीखने लग जाता है। गोपियों की मनोदशा योगधारणा की श्रेष्ठतर अवस्था का उदाहरण है **"जित देखूँ तित् श्याम सखीरी"**।

ध्यान की महिमा अपरम्पार है। सर्व आत्म संधान के मार्गों को अन्ततः ध्यान से ही होकर गुजरना है। ध्यान से ही अविद्या, राग, द्वेष, अस्मिता अभिनिवेश का बंधन कटता है। ध्यान योग की पूर्ण अवस्था का ही नाम समाधि है। समाधि में सर्वकर्माशियों के संस्कारों का दग्धीकरण हो जाता है। अतः हम सभी सिद्धयोग के साधकों को उन परम करुणार्णव श्री प्रभुजी के वचनों का सदैव स्मरण कर आत्मोद्धार के लिये ध्यानयोग का आश्रय लेते रहना चाहिये।

* * *

सर्वभूतहितेरताः

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

योगी का अधिकार और उसका सम्बन्ध भौतिक, प्राणिक, मानसिक एवं अतिमानसिक चेतना से होता है। अतः वह धर्म, मजहब, पन्थ, जाति, देश, लिंग आदि सभी सीमाओं से अतीत सार्वभौम, सार्वदेशिक तथा सर्वभूतों का सदा हित करता है। उसके सम्पर्क में जो भी आ जाता है या उसके साधना काल में उसके दृष्टिपथ में जो भी आ जाता है, उसका कुछ न कुछ कल्याण अवश्य होता है। यदि उस प्राणी का कोई पुण्य कर्म योगी के सम्पर्क काल में भोगोन्मुख है तो योगी के सम्पर्क में आते ही उस पुण्य भोग-काल के परिणाम-स्वरूप वह प्राणी योगपथ का पथिक बन जायेगा, अन्यथा कष्टकर प्रारब्ध कर्मों का भुगतान योगी के सान्निध्य से सूक्ष्म में अवश्य हो जायेगा। ध्यान-योग परायण योगी जिस स्थान पर रहता है उस क्षेत्र में चतुर्दिक सतोगुण के परमाणु व्याप्त हो जाते हैं। कितने ही बुरे मन वाला प्राणी वहाँ पहुँच जाय कुछ समय के लिए उसका मन सतोगुणी भावनाओं से अवश्य भर जायेगा। राम-चरित मानस में कागभुसुण्ड जी के आश्रम के वर्णन प्रसंग में उल्लेख है कि जहाँ भक्तियोगी कागभुसुण्ड जी श्री राम कथा कहा करते थे। उसके एक योजन पर्यन्त माया प्रवेश नहीं कर पाती थी। उस वातावरण में पहुँचकर गरुड़ जैसे तार्किक ज्ञानी को भक्ति की अनुभूति हुई। शास्त्र तथा सन्तजन इसीलिए प्रायः कहा करते हैं-

बिनु सत्संग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

तथा-

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई।।

सिद्धयोगियों का संग तत्काल फल देता है। उनका संग ही सही अर्थों में सत्संग है। सिद्ध पुरुष ही तीर्थ हैं। उनका स्मरण मन को सतोगुण से भर देता है। उनके सम्पर्क में आने वाली हर वस्तु चिन्मय हो जाती है। उस वस्तु में उनके सात्विक परमाणु भर जाते हैं जिससे अन्य वस्तुयें भी पवित्र हो जाती हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार महापुरुषों के चित्रों के पूजन की प्रथा है। महापुरुषों के सम्पर्क से चेतन प्राणी ही नहीं अपितु जड़ पदार्थ तक पूजनीय बन जाते हैं। भगवान बुद्ध ने जिस वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था वह बोधि वृक्ष पच्चीस हजार वर्ष बाद भी पूजनीय है। महापुरुष जिससे कुछ सेवा ले लें उसका जीवन धन्य हो गया। उसके प्रारब्ध में असंख्यों पुण्य एकत्रित होकर उस प्राणी को कल्याण मार्ग का पथिक बना देते हैं। मनुष्य जीवन में सिद्ध-पुरुषों की कृपा से ही उत्कर्ष का समय आया करता है। शास्त्रकारों ने, सन्तों ने तथा विद्वानों ने सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि.....

मति कीरति गति भूति भलाई।
जिहि जेहि जतन जहाँ जो पाई।
सो जानव सत्संग प्रभाऊ।

सन्त तथा सिद्ध-पुरुष जीवों के दारुण दु:खों से द्रवित होकर लोक-कल्याण की कामना से अपने शाश्वत सुख को छोड़कर उन पर अपनी कृपायें करते रहते हैं। सिद्धों के महासिद्ध आनन्दकन्द श्री महाप्रभुजी अपने दिव्य धाम से आकर लोक-कल्याण के लिए इसी प्रकार के अनेकों साधकों को योग समाधि देकर अखण्ड अच्युत पद का पथिक बनाते रहते हैं।

आजकल परोपकार, समाज सेवा और जनकल्याण का बाजार गर्म दिखाई देता है बड़े-बड़े सिद्धान्तों की आड़ में यह सब आत्म-प्रवचना तथा धोखा मात्र है। जिसके मन में यश की कामना, वैभव की कामना, पदलिप्सा या प्रपंच के द्वारा दूसरों को उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा करने की भावना विद्यमान है वह जनसेवा कर ही नहीं सकता। न योग-मार्ग में भी ऐसे व्यक्ति को सफलता मिल सकती है। आज योगियों की और योगाश्रमों की बाढ़-सी आ रही है। क्या उसके पीछे सोलह आने जनकल्याण की भावना है ? धन इकट्ठा करना, नेता बनना, मान-सम्मान की चाहना-यही सब कुछ न है इस परोपकार के पीछे। इसीलिए इन तथाकथित योगियों का प्रभाव चमत्कारों के सहारे थोड़े समय तक तो दिखाई पड़ता है। किन्तु ये कभी किसी के जीवन में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन कर सकेंगे इसमें सन्देह है ! सच्चा योगी वह है जो कहता कम और करता ज्यादा है। भगवान श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं-

न हि असन्यस्त संकल्पो,
योगी भवति कश्चन्।

जिसकी कामनायें समाप्त नहीं हुयी वह सही अर्थ में योगी हो ही नहीं सकता। सन्त और योगी के दरबार में कोई टिकट और फीस नहीं होती न धनी और न निर्धन के साथ कोई भेदभाव होता है। परोपकारी के पास सम्पत्ति स्वत: होती है उसे फीस लगाने की जरूरत नहीं पड़ती-

परहित बस जिनके मन माहीं।
तिनको जग दुर्लभ कछु नाहीं।।

'परहित सरिस धर्म नहिं' परोपकारी के पास ऋद्धियां और सिद्धियां स्वत: आ जाती है। ईश्वर ने हमें सूर्य, हवा, जल जैसी जीवन के लिए नितान्त आवश्यक चीजें दीं किन्तु बदले में वह कृतज्ञता से अधिक कुछ नहीं चाहता। और हम मिट्टी को भी ऊँची से ऊँची कीमत लेकर दूसरों पर अहसान जताकर देना चाहते हैं। समाज में आर्थिक विषमता और वर्ग संघर्ष का यही कारण है। हम सेवक के स्थान पर सम्पत्ति के स्वामी बन गये हैं। हम अपने जीवन की सबसे बड़ी सफलता इसी में मानते हैं कि दूसरों को वंचितकर सब वस्तुओं को हम अपने लिए सुरक्षित कर लें। जब तक अन्तर्जगत में व्यक्ति का प्रवेश नहीं होता वह सही अर्थ में जनता की सेवा कर ही नहीं सकता। भगवान श्री कृष्ण गीता में परोपकार का उसे ही अधिकारी मानते हैं जो मन्दिर में दीपक जलाने से पहले अपने घर में प्रकाश कर लें-

योऽन्तः सुखोऽन्तरा-
रामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं
ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं,
मृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः
सर्वभूतहिते रताः।।
(गीता ५/२४/२५)

यौगिक प्रश्नोत्तरी

प्रातःकालीन बेला में ध्यानाभ्यास के पश्चात् आश्रम के सभी अन्तःवासी ब्रह्मचारी, जिनमें महिला और पुरुष दोनों ही थे, अपने श्रद्धास्पद गुरुदेव जी के आने से पूर्व ही आ-आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। गुरुदेव जी के पीठासीन होते ही सभी ने क्रमशः उनके चरण-कमलों का वन्दन किया और सभी ने सामूहिक रूप से जय गुरुदेव के घोष से नभो-मण्डल को निनादित करते हुए अपने-अपने आसनों पर अपना स्थान ग्रहण कर लिया। सबके शान्त चित्त यथा स्थान बैठ जाने पर गुरुदेव जी ने सभी शिष्यों पर अपनी कृपापूर्ण दृष्टि डाली और सामूहिक रूप में सभी से कहा-बोलो क्या कोई जिज्ञासा है ?

प्रश्न-विनीत-भाव से दोनों हाथ जोड़कर एक शिष्य खड़ा हुआ और कहने लगा-पूज्य गुरुदेवजी ! आज हम आपसे यह जानना चाहते है कि यदि कोई साधक अथवा शिष्य अपने एक गुरु के आश्रम को छोड़कर किसी अन्य आश्रम में किसी अन्य गुरु की सेवा में जाना चाहे तो क्या इसमें कोई दोष होगा ?

उत्तर-आचार्य गुरुवर इस प्रश्न को सुनकर मुस्कराये और बोले-सुनो सौम्य ! कुलार्णव तन्त्र में इस सम्बन्ध में एक उत्तम परामर्श इस प्रकार दिया गया है-

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः,
पुष्पात् पुष्पान्तरं।
ज्ञानलुब्धस्तथः शिष्यो,
गुरो गुरवन्तरं व्रजेत।।

अर्थात्-जैसे मधु प्राप्ति के लिए भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर जाता है, वैसे ही ज्ञान-पिपासु शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु की सेवा में जा तो सकता है, परन्तु ऐसा करते समय पूर्व गुरु के प्रति श्रद्धा और सम्मान के उसके भाव में कोई कमी नही आनी चाहिये, ऐसा परिवर्तन तभी करना चाहिये, जबकि साधक शिष्य को यह अनुभव होने लगे कि गुरु उपदिष्ट साधन अपनाने पर भी मुझे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त नही हुई है तथा इसके लिये मेरा अन्यत्र जाना आवश्यक है। सम्भव हो तो अपने पूर्व गुरुदेव जी से भी इसकी अनुज्ञा ले लेनी चाहिये।

गुरुवर के इस उत्तर के पश्चात् सभी शिष्य शान्त भाव से आगे का प्रवचन सुनने के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय एक अन्य शिष्य खड़ा हुआ और करबद्ध होकर कहने लगा-हे गुरुदेव हममें से अधिकांश-बहुत से साधनों को जानते है

किन्तु उन्हें फिर भी इष्ट-सिद्धि प्राप्त नही होती इसका कारण क्या है ?

उत्तर-गुरुदेव जी ने कहा-हे सौम्य ! तुम्हारा प्रश्न ठीक ही है और भी कुछ साधकों को यह शिकायत रहती है कि वे योगांगों के ज्ञाता तो है, जो बताया जाता है उसे वे भली प्रकार ध्यान में बिठा भी लेते है, लेकिन साधन करने पर उन्हें वांछित सफलता नही मिलती। ऐसा क्यों होता है। गुरुदेव बोले-सुनो पुत्र ! मुख्य रूप से यह शिकायत प्रायः ऐसे साधकों को ही रहती है, जो न तो किसी सुयोग्य आचारवान गुरु के चरणों में बैठकर उनके निर्देशन में यौगिक साधनायें करते है और न योगानुशासन का पालन करना चाहते है। न नियमित जिनकी दिनचर्या होती है और जो न दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कार सेविता दृढ़भूमि पर ही पहुँचकर अपने पैर जमा पाते है यानी निरन्तर और दीर्घकालीन अभ्यास में जो जुटना नही चाहते, उन्हें योग मे इष्ट सफलता मिल ही कैसे सकती है। ऐसे साधक जो केवल पल्लवग्राही ज्ञान के आधार पर योगारूढ़ होना चाहते है, कभी भी अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकते। सुनो सौम्य ! इस विषय में योगवेत्ताओं के इस परामर्श पर विशेष ध्यान देना चाहिए-

प्रशान्त चित्ततस्य जितेन्द्रियस्य,
गुणान्वितस्यऽऽगुरु सेविनश्च।
नूनं भवेद्योग समस्त सिद्धि
नन्येितरासक्त जनस्य कस्य।।

अर्थात्-जो प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय, गुणी एवं भली प्रकार गुरु की सेवा करने वाला होता है उसी को योग-सिद्धियाँ सुलभ होती है, अन्य विषयासक्तों को नहीं।

उपर्युक्त श्लोक में **'गुणान्वितस्याऽऽगुरुसेविनश्च'** शब्द है इसका आशय यही है कि बिना सद्गुरु के भली प्रकार सेवा किये योगसाधन सिद्ध नहीं हो सकता। सद्गुरु की प्रसन्नता से ही आत्म-दर्शन का लाभ होता है। **'आचार्यवान्पुरुषोवेद'** कथन से भी इसी का समर्थन किया गया है। जो गुरु वाला होता है वही आत्म-लाभ कर सकता है।

इनके अतिरिक्त सिद्धि प्राप्ति के लिये उत्साह, साहस, धैर्य, श्रद्धा और दृढ़ संकल्प भी योग-सिद्धि की सुलभता में सहायक होता है। अतः इन गुणों को साधक को धारण करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए तथा आहार भी योगाभ्यासियों को सदैव परमित और सात्विक ही करना चाहिए। इससे सात्विक विचार बनेगा और विचारों के सात्विक बनने से जीवन का सारा क्रिया-कलाप ही सात्विक बन जायेगा।

* * *

मेरे जीवन में श्री सद्‌गुरुदेव

—डा० स्वामी केशवाचार्य (बड़ौदा)

सन् १९७२ में हम एक **धर्म कल्पद्रुम** नामक ग्रन्थ खरीदने के लिए मोतीलाल बनारसी दास की दुकान वाराणसी में जाया करते थे। वहाँ मैं घंटों बैठ जाया करता था। दुकान के कैश काउन्टर पर बैठे एक वृद्ध व्यक्ति के भाल पर लम्बा सा त्रिपुण्ड तिलक और एक बहुत बड़ा सा साफा बंधा रहता था। और उनकी दृष्टि दुकान में लगी हुई एक चित्रपट पर अडिग सी रहती थी। उन दिनों में मै शास्त्रार्थ किया करता था काशी मे इस लिए 'धर्म कल्पद्रुम' अध्ययन करना मेरे लिए आवश्यक हो गया था। और 'धर्म कल्पद्रुम' विश्व विद्यालय के अलावा केवल मोती लाल बनारसी दास जी की दुकान में ही उपलब्ध था। वह भी कई भागों में है इसलिए केवल एक-एक प्रतियाँ ही बची थी। उस ग्रन्थ के विक्रय पर रोक लग गयी थी।

अतः मै वही बैठकर अध्ययन किया करता था। एक दिन मै आश्चर्य चकित हुआ कि यह दुकान पर बैठा हुआ वृद्ध व्यक्ति निश्चित ही योगी होना चाहिए। क्योंकि सुबह से शाम तक एक ही आसन पर अविचलित एक चित्र पट पर दृष्टि डाले एक ही मुद्रा मे बैठे रहता है। और मेरा आश्चर्य भी सत्य मे परिवर्तित हो गया। हुआ यह कि उस व्यक्ति ने जब मेरी तरफ देखा और मैंने पूछा कि आप उधर क्या देखा करते हो, तो उन्होंने बताया कि स्वामी जी इस चित्र को तो आप देख रहे है। वह चित्र भगवान श्री शंकर जी का था। वह व्यक्ति उठा और उस चित्र को उतारा, हटाया तो वही नीचे अनन्त श्री समलंकृत परम पूज्य पाद प्रातः स्मरणीय साक्षात वेद मूर्ति जगत के जीवोद्धारक साक्षात शिव स्वरूप परम ब्रह्मनिष्ठ मेरे केशवाचार्य के पुनर्जन्म प्रदाता अनंत श्री श्री योगिराज पं. श्री राम लाल जी महाराज का सुन्दर चित्र मुझे उन्होंने दिखाया और कहा कि आज इस जगत मे (मै इनके कृपा से ही जीवित हूँ) इसके बाद तुरन्त एक सुन्दर दिव्य चित्र प्रातः स्मरणीय श्री सद्‌गुरुदेव अनंत श्री योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज का दिखाया और बताया कि ये मेरे ही नही अपितु जगत के सभी दीन दुःखियों के आत्मा हैं। परन्तु उस समय मुझे ये सब बाते ज्यादा समझ मे नहीं आयी क्योंकि मै अभागा जो ठहरा।

उस वृद्ध ने मुझे श्री सद्‌गुरुदेव जी के बारे में बहुत कुछ कहा बताया। किन्तु दुर्भाग्य

वश मैं समझ न सका। अब तो बहुत समय व्यतीत हो गया। अब न तो वह वृद्ध ही संसार में है और न श्री सद्गुरु देव जी ही शरीर से रहे। आज मुझे कष्ट केवल इस बात का है कि श्री सद्गुरुदेव जी का सानिध्य प्राप्त न हो सका। इधर बहुत वर्षों के बाद जब मैं आगरा आया तो मेरी बहन श्रीमती प्रेमलता जी के घर जब मैं गया तो वहाँ परम श्री प्रभु जी की छवि एवं श्री सद्गुरुदेव जी की छवि का मुझे दर्शन कराया गया। मैंने पूछा तो विस्तार से श्री प्रभु जी के एवं श्री सद्गुरुदेव जी के बारे में बहन श्रीमती प्रेमलता जी ने बताया तो मुझे वाराणसी में मोती लाल बनारसी दास जी की उस दुकान के उस वृद्ध की बात याद आयी। मेरे नेत्र सजल हो उठे। अश्रु की प्रेममयी धारा प्रवाहित हुई फिर मुझे बहन श्रीमती प्रेम लता जी संवाई धाम ले गयी वहाँ दर्शन कराये एवं ज्येष्ठ भ्राता श्री पं. भुवनेन्द्र झा जी से भी परिचय करवाया। आज भी मुझे अत्यन्त वेदना हो रही है कि ऐसे श्री सद्गुरुदेव जी के चरणों में रहने का अवसर प्राप्त न हो सका। पं. श्री भुवनेन्द्र झा जी बहुत ही स्नेह देते हैं। अस्तु!

मैंने अपना अमूल्य समय खो दिया। क्योंकि सन्तों का सानिध्य प्राप्त होने से जीवन ही नहीं अपितु अग्रिम कई जन्म भी धन्य हो जाते है। श्री मद्‌भागवत् जी में एक श्लोक है कि **"यद्यत् स्पृशति पाणिभ्यां, यद्यत्पश्यति चक्षुषा स्था वराण्यऽपि मुच्यन्ते किं पुनः पामरा जनाः।"** सन्त महा पुरुष यदि हाथ से स्पर्श कर दे, यदि नेत्र से देख ले तो स्थावर जीवन जंगम भी तर जाते हैं। तो हम पामर जीव क्यों न तरें। श्री सद्गुरुदेव ने जिनको भी स्पर्श किया या देखा उन सबका कल्याण अवश्य हो गया। एक मैं ही अभागा रहा जो ऐसा अवसर न पा सका।

श्री सद्गुरुदेव स्वयं परमात्मा थे, भगवान थे। जिन्होंने यहाँ इस धरा पर पधार कर योग के माध्यम से जीवों का उद्धार किया। योग क्या है ? श्री सद्गुरुदेव भगवान परमात्मा से जोड़े जीवों को। जीवों का कल्याण हो गया। मैं तो विश्वास के साथ यहाँ तक समझता हूँ कि श्री सद्गुरुदेव भगवान द्वारा श्री संवाई धाम आश्रम में रहने वाले ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जगत में जिनको भी स्पर्श, दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ है वो सभी "मुमुक्षु" हो गये हैं। आज श्री सद्गुरुदेव भगवान द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से कृपा का ही परिणाम है कि मैं पुनर्जन्म प्राप्त करते हुए सानन्दित जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। ये अप्रत्यक्ष कृपा को कभी हम कई जन्मों तक नहीं भूल पायेंगे (मुझे अप्रत्यक्ष रूप से जो कृपा प्राप्त हुई है या जो योग तत्व प्राप्त हुआ है वो अविवर्चनीय है, अवर्णनीय है।

* * *

गीता में योग शब्द का प्रयोग

ब्र० ओम प्रकाश (लखनऊ)

१. निर्योग क्षेम आत्मवान्। (२/४५) परमात्मा में स्थित योगक्षेम न चाहने वाला। **२. योगस्थः कुरु कर्माणि।** (२/४८) योग में स्थित हुआ कर्म करे। **३. समत्वं योग उच्यते।** (२/४८) समान बुद्धि योग से। **४. बुद्धि योगाद्धनञ्जय।** (२/४९) बुद्धि योग का आश्रय। **५. योगमवाप्स्यसि।** (२/५३) तू योग को प्राप्त हो जायेगा। **६. ज्ञानयोगेन सॉंख्यानाम् कर्म योगेन योगिनाम्।** (३/३) सॉंख्य योगियों की निष्ठा ज्ञान योग से और कर्म योगियों की निष्ठा कर्म योग से। **७. कर्म योगमसक्तः।** कर्म योग का आचरण करता हुआ। **८. इमं विवस्वते योगं।** (४/१) इस अविनाशी योग को। **९. योगो नष्टः परंतप।** (४/२) योग बहुत काल नष्ट हो गया। **१०. योगः प्रोक्तः पुरातनः।** (४/३) वही पुरातन योग। **११. योगिनः पर्युपासते।** (४/२५) योगीजन उपसते हैं। **१२. योग यज्ञास्तथापरे।** (४/२८) योग रूप यज्ञ करने वाला। **१३. तत्स्वयं योग संसिद्ध।** (४/३८) योग से शुद्ध अन्तकरण हुआ। **१४. योग संन्यस्तकर्माणं।** (४/४१) कर्म योग की विधि से। **१५. योगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत।** (४/४२) कर्म योग में स्थित हो जा। **१६. पुनर्योंग च शससि।** (५/१) कर्म योग की प्रशंसा। **१७. सन्यासः कर्म योगश्च।** (५/२) कर्म सन्यास और कर्म योग। **१८. कर्म योगो विशिष्यते।** (५/२) कर्म योग साधन में सुगम है। **१९. साख्ययोगौ पृथग्वालाः।** (५/४) सन्यास और कर्म योग को पृथक-पृथक। **२०. एकं सॉंख्यं च योगं च।** (५/५) ज्ञान योग और कर्म योग को।

२१. योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म। (५/६) भगवत स्वरूप का मनन करने वाले योगी। **२२. योग युक्तो विशुद्धत्मा।** (५/७) विशुद्ध अन्तकरण वाला युक्त योगी। **२३. योगिनः कर्म कुर्वन्ति।** (५/११) कर्म योगी ममत्व बुद्धि रहित कर्म। **२४. स ब्रह्म योग युक्तात्मा।** (५/२१) परब्रह्म के ध्यान रूप योग में। **२५. स योगी ब्रह्मनिर्वाणं।** (५/२४) परब्रह्म के साथ एकी भाव को प्राप्त योगी। **२६. स सन्यासी च योगी।** (६/१) सन्यासी और योगी। **२७ प्राहुर्योंग तं।** (६/२) उसी को तू योग जान। **२८. योगी भवति कश्चन** (६/२) संकल्प त्यागे बिना कोयी योगी नहीं बनता। **२९. आरूरू क्षोर्मुनेर्योगं।** (६/३) योग मे आरूढ़ होने की। **३०. योगारूढ़स्य तस्यैव।** (६/३) योगरूढ़ पुरुष का। **३१. योगारूढ़स्तदोच्यते।** (६/४) योगरूढ़ कहा जाता है। **३२. युक्त इत्युच्यते योगी।**

(६/४) वह योगी युक्त कहा जाता है। **३३. योगी युञ्जति सततमात्मानं।** (६/१०) योगी आत्मा को निरन्तर परमात्मा मे लगावे। **३४. युञ्ज्याद्योगमात्म विशुद्धये।** (६/१२) अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग करे। **३५. योगी नियत मानसः।** (६/१५) योगी इस प्रकार। **३६. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति।** (६/१६) यह योग न तो बहुत खाने वालों का। **३७. योगो भवति दुःखहा।** (६/१७) दुःखों का नाश करने वाला योग। **३८. योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योग मात्मनः।** (६/१९) परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की। **३९. निरूद्धं योग सेवया।** (६/२०) योग के अभ्यास से निरूद्ध। **४०. दुःख संयोग वियोगं योगसंज्ञितम्।** (६/२३) जो दुःख के संयोग से रहित हो उसका नाम योग है।

४१. योगोऽनिर्विण्ण चेतसा। (६/२३) योग मुक्त चित्त से करना चाहिए। **४२. योगिनं सुख मुत्तमम्।** (६/२७) योगी को उत्तम सुख मिलता है। **४३. योगी विगत कल्मषः।** (६/२८) वह पाप रहित योगी। **४४. ईक्षते योग युक्तात्मा।** (६/२९) योग से युक्त आत्मा वाला। **४५. स योगी मयि वर्तते।** (६/३१) वह योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ। **४६. स योगी परमोमतः।** (६/३२) वह योगी परम श्रेष्ठ है। **४६. योग्यं योगस्त्वया।** (६/३३) जो यह योग अपने। **४८. असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति में मतिः।** (६/३६) जिसका मन वश में नही है ऐसे पुरूष द्वारा योग पुष्प्राप्य है। **४९. योगाच्चलित मानसः** (६/३७) योग मे श्रद्धा है किन्तु संयमी नही है। **५०. अप्राप्य योग संसिद्धिं।** (६/३७) अन्तकाल में योग से विचलित। **५१. योग भ्रष्टोऽभिजायते।** (६/४२) योग भ्रष्ट पुरूष। **५२. अथवा योगिनामेव।** (६/४४) अथवा ज्ञानवान योगियों के। **५३. जिज्ञासुरपि योगस्य।** (६/४४) योग का जिज्ञासु भी। **५४. योगी संशुद्धकिल्विषः।** (६/४५) योगी शुद्ध सब पापों से रहित है। **५५. तपस्विभ्योऽधि को योगी।** (६/४६) योगी तपस्वियो से श्रेष्ठ है। **५६. तस्माद्योगी भवार्जुन।** (६/४६) अर्जुन तू योगी बन जा। **५७. योगिनामपि सर्वेषां।** (६/४७) सम्पूर्ण योगियों मे। **५८. योगं युञ्जन्मदाश्रयः।** (७/१) मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ। **५९. योगमाया समावृतः।** (७/२५) योग माया से छिपा हुआ। **६०. अभ्यास योग युक्तेन।** (८/८) अभ्यास रूप योग से युक्त।

६१. योग बलेन चैव। (८/१०) योग बल से। **६२. प्राणमास्थितो योगधारणाम्।** (८/१२) प्राणको मस्तक में स्थापित करके योग धारणा में स्थित होकर। **६३. नित्युयुक्तस्य**

योगिनः। (८/१४) निरन्तर मुझमें युक्त हुआ योगी। **६४. नावृतिं चैव योगिनः।** (८/२३) शरीर त्यागकर गये हुए योगी जन। **६५. जानन्योगी मुह्यति कश्चन।** (८/२७) तत्व से जानकर योगी मोहित नहीं होता। **६६. योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।** (८/२८) योगी सनातन परम पद को प्राप्त होता है। **६७. पश्य मे योगमैश्वरम्।** (९/२) मेरे योग ऐश्वर्य को देख। **६८. योगक्षेमं वहाम्यहम्।** (९/२२) योगक्षेम मै स्वयं प्राप्त देता करता हूँ। **६९. सन्यास योग युक्तात्मा।** (९/२८) सन्यास योग से युक्त चित्त वाला। **७०. येतां विभूतिं योगं च।** (१०/७) जो पुरुष मेरी विभूति को और योग को। **७१. सोऽविकम्पेन योगेन।** (१०/७) वह निश्चय योग से। **७२. ददामि बुद्धि योगं तं** (१०/१०) वह तत्व ज्ञान रूप योग देता हैं। **७३. कथं विद्यामहं योगिस्त्वां।** (१०/१७) हे योगेश्वर मै किस प्रकार आप को जानू। **७४. विस्तरेणात्मनो योगं।** (१०/१८) अपनी योग शक्ति को विस्तार पूर्वक कहिए। **७५. योगेश्वर ततो मे त्वं ।** (११/४) तो हे योगेश्वर आप। **७६. पश्य मे योग मैश्वरम्।** (११/८) मेरी ईश्वरीय योग शक्ति को देख। **७७. रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।** (११/४७) योग शक्ति के प्रभाव से मेरे परम रूप को। **७८. तेषां के योगवित्तमा।** (१२/१) उत्तम योग वेत्त कौन ? **७९. अनन्येनैव योगेन।** (१२/६) अन्यन्य भक्ति योग से। **८०. अभ्यास योगेन ततो।** (१२/९) अभ्यास रूप योग के द्वारा। **८१. कर्तुमद्योगमाश्रितः।** (१२/११) योग के आश्रित। **८२. सन्तुष्टो सतत् योगी।** (१२/१३) जो योगी निरन्तर संतुष्ट है। **८३. मयि चानन्य योगेन।** (१३/१०) मुझ परमेश्वर में अनन्य योग के द्वारा। **८४. अन्ये साख्येन योगेन कर्म योगेन चापरे** (१३/२४) अन्य कितने ही ज्ञान योग को दूसरे कर्म योग को। **८५. भक्ति योगेन सेवते।** (१४/२६) भक्ति योग के द्वारा। **८६. यतन्तो योगिन श्चैनं।** (१५/११) यत्न करने वाले योगी जन भी। **८७. ज्ञानियोग व्यवस्थितिः।** (१६/१) ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति। **८८. योगेना व्यभिचारिण्या।** (१८/३३) ध्यान योग के द्वारा व धृति सात्विकी है। **८९. ध्यान योग परो नित्यं।** (१८/५२) निरन्तर ध्यान योग के परायण। **९०. बुद्धि योग मुपाश्रित्य।** (१८/५७) सम बुद्धि रूप योग को। **९१. योगं योगेश्वरात्कृष्ण।** (१८/७५) योग को स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण से। **९२. यत्र योगेश्वरः कृष्णो।** (१८/७८) जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण है।

* * *

'पर दु:ख-दु:ख, सुख-सुख देखे पर'

–राजेन्द्र प्रसाद पाठक

पदार्थ, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के साथ-साथ देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, योग्यता तथा सामर्थ्य आदि कुछ भी व्यक्तिगत नही है। यदि हम दूसरों के दु:ख को देखकर दु:खी तथा दूसरों के सुख मे सुखी होने लगे तो दु:ख और सुख का आद्यन्त ही नही हो सकता। पर भाव ऐसा होना चाहिये कि अपने सामर्थ्य के अनुसार दूसरों के दु:ख को मिटाने की चेष्टा और अपने सामर्थ्य के अनुकूल ही दूसरों के सुख को बढ़ाकर सुखी होने जैसे भाव से बढ़कर इस संसार में कोई दूसरा कर्म हो ही नहीं सकता। कहा भी गया है कि **"माकश्चिद दु:खभाग्भवेत** अर्थात् किसी को किञ्चिन्मात्र भी दु:ख न हो। वैसे संसार में सभी को सुखी बना देना सम्भव तो नहीं है पर भाव तो ऐसा बनाया ही जा सकता। यदि स्वतन्त्रता भाव बनाने मे है तो मर्यादा का पालन अवश्य होगा। महर्षि वेद व्यास ने बताया कि– **श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां** न समाचरेत ।। (पदम पुराण, सृष्टि१९/३५५/५६) "हे मनुष्यों ! तुम लोग धर्म का सार सुनो और सुनकर धारण करो कि जो हम अपने लिये नहीं चाहते, उसको दूसरों के प्रति न करें।"

प्रयाग, काशी, हरिद्वार मे स्नान करते हुये लोगों की क्रियायें देखने को मिलती है कि गंगा जल मे प्रवेश, स्नानादि पश्चात हाथ में जल लेकर मन्त्र द्वारा इष्ट ध्यान कर उस जल को उसी गंगाजल मे अर्पण कर क्या वे कुछ चाहते है। स्वयं जल लेकर स्वयं के मुख प्रक्षालन पश्चात किसी वस्तु की प्राप्ति की जैसे हम आशा नहीं करते ठीक उसी प्रकार "किसी को कुछ देने" के पश्चात हमने उसी की वस्तु उसी को लौटायी जैसा भाव महत्वबुद्धि पैदा करती है।

स्वत: सिद्ध है कि प्रत्येक इन्द्रिय श्रोम, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण के विषय है– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, मे अनुकूलता-प्रतिकूलता की मान्यता से मनुष्य के राग-द्वेष स्थित रहते है। इन्द्रिय के विषय मे अनुकूलता का भाव होने पर मनुष्य का उस विषय मे 'राग' हो जाता है और प्रतिकूलता का भाव होने पर उस विषय मे द्वेष हो जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति का कार्य है और शरीर सृष्टि का एक अंश। जब तक शरीर के प्रति ममता रहती है तभी तक राग-द्वेष होते है अर्थात मनुष्य की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह रुचि या अरुचि पूर्वक ही वस्तुओं को ग्रहण और त्याग करता है। यही रुचि-अरुचि ही राग-द्वेष का सूक्ष्म रूप है। बिना इस सूक्ष्म रूप को वश मे किये 'पर दु:ख दु:ख' और 'सुख-सुख देखे पर' की सीढ़ी को पार ही नहीं किया जा सकता। क्योंकि 'एहितन कर फल विषय न भाई' कहकर सावधान किया गया इस 'मनुष्य' को और मनुष्यता से भरे इस 'शरीर' को तथा कहा कि–'त्वदीयं वस्तु 'गोविन्द तभ्यमेव समर्पये' के माध्यम से कर्मयोगी बनकर सभी पदार्थों को संसार का ही मानकर संसार को अर्पण करना ही श्रेयस्कर है।

श्री गीता में वर्णन आता है कि संजय और अर्जुन शोक से, भय से व्यथित (व्याकुल) हो जाते है और उनकी व्याकुलता के कारण ही उनकी दिव्य दृष्टि समाप्त हो जाती है और दिव्य दृष्टि समाप्ति के कारण बहुत कुछ देखने में असमर्थ हो जाता है तब भगवान की दी हुई विवेक दृष्टि काम नहीं करती। इस प्रकार यदि मनुष्य मोह में न फँसकर अपनी विवेक दृष्टि को महत्व देगा तो वह अपना उद्धार करके संसार मात्र का उद्धार करने वाला बन सकता है।

सेवा में प्राणीमात्र का भाव असीम होने से सेवा भी असीम हो जाती है, अतः पदार्थों के अपने पास रहते हुये भी उनमें आसक्ति, ममता आदि न करके बल्कि उन्हें प्राणियों का मानकर के उन्हीं की सेवा में लगाना ही सच्ची सेवा कहा गया है। क्योंकि वे पदार्थ समष्टि के ही हैं। ऐसा असीम भाव होने पर जड़ता से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाने के कारण साधक को असीम तत्व (परमात्मा) की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि पदार्थों को व्यक्तिगत मानने से ही मनुष्य में परिच्छिनता (एकदेशीयता) तथा विषमता रहती है और पदार्थों को व्यक्तिगत न मानकर सम्पूर्ण प्राणियों के हित का भाव रखने से परिच्छिन्नता तथा विषमता मिट जाती है। इसके विपरीत साधारण मनुष्य का ममता वाले प्राणियों की सेवा करने का सीमित भाव रहने से, वह चाहे अपना सर्वस्व उनकी सेवा में क्यों न लगा दे, तो भी पदार्थों में तथा जिनकी सेवा करे, उनमें आसक्ति, ममता आदि रहने से (सीमित भाव के कारण) उसे असीम परमात्मतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

योग योगेश्वर अनन्त भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर, कल्याणकारक चार साधन बताये (अ) समर्पण (ब) अभ्यास (स) भगवान के लिये ही सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान और (द) सर्व कर्म फल त्याग। यद्यपि चारों साधनों का फल भगवत्प्राप्ति ही है तथापि साधकों में सोच, श्रद्धा, विश्वास और योग्यता की भिन्नता के अनुसार ही भिन्न-भिन्न साधनों का भी निरूपण किया गया है।

किसी साधन की सुगमता या भिन्नता साधक की रुचि और उद्देश्य पर निर्भर करती है। रुचि और उद्देश्य एक भगवान का होने से साधन सुगम होता है तथा रुचि संसार की और उद्देश्य भगवान का होने से साधन कठिन हो जाता है। किन्तु इन चारों साधनों में 'भाव' का विशेष महत्व है। सत्यनिष्ठ भाव ही गहरी साधना में सफलता प्रदान कर सकती है। दूसरों के दुःख को दूर करने तथा दूसरों के सुख-सम्मान में बढ़ावा तभी किया जा सकता है। जब-समर्पण, अभ्यास, कर्मों का अनुष्ठान और कर्मफल त्याग की भावना के 'भाव' में संतोष प्रबल और रुचिपूर्ण हो। श्री मद्भागवत महापुराण व्यक्त करता है कि ''जैसे पैरों में जूते पहनकर चलने वाले को कंकण और काँटों से कोई भय नहीं होता, ऐसे ही जिसके मन में संतोष है, उसके लिये सर्वदा सब जगह सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं''।

सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्करा कण्टका दिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्।।

सर्वत्र भगवद्दर्शन

श्रद्धेय स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज

परमात्मतत्व की प्राप्ति मे देरी होने का एकमात्र कारण है–उत्कट अभिलाषा की कमी, और इस कमी का कारण है- सांसारिक सुख की चाहना। हमें परमात्मा की प्राप्ति हो जाय, हमारा कल्याण हो जाय, हमें तत्वज्ञान हो जाय, हमारा भगवान् में प्रेम हो जाय, हम जीवन्मुक्त हो जायँ, हम जन्म-मरण से रहित हो जायँ, हम सब दुःखों से छूट जायँ आदि किसी भी एक बात की जोरदार इच्छा होनी चाहिए कि उसके बिना रह न सकें! जैसे, किसी के मन मे यह जोरदार इच्छा हो जाय कि गंगा कैसे मिले? गंगा के पास मे कैसे पहुँचे ? गंगा को कैसे जाने ? गंगा के दर्शन कैसे हों ? और कोई जानकर आदमी सामने बहती हुई नदी की तरफ संकेत करके बता दे कि यही गंगा है तो गंगा की प्राप्ति मे कितनी देरी लगी ? क्या परिश्रम हुआ ? पहले अपनी दृष्टि में वह नदी थी, अब दृष्टि चली गयी कि यह तो गंगा है- इतनी ही बात है।

एक बार किसी भाई ने सेठजी श्री जयदयालजी गोयन्दका से कहा कि हमें भगवान् के दर्शन करा दो! सेठजी ने कहा कि भाई, हमारी सामर्थ्य नही है। उसने फिर कहा तो सेठजी बोले कि मै दर्शन तो करा दूँ पर आप मानोगे नही। अगर आप मान लोगे तो दर्शन करा देता हूँ। उसने कहा कि आप सत्यवादी हैं–ऐसा प्रसिद्ध है। अतः आप कहोगे तो मै मान लूँगा। सेठजी उसको बाहर ले गये और सूर्य की तरफ संकेत करके बोले कि देखो, ये भगवान् है! वह भाई बोला कि सूर्य को तो हम नित्य ही देखते है! सेठजी ने कहा कि शास्त्रों ने सूर्य को भगवान कहा है! ईश्वर कोटि के पाँच देवताओं मे भी सूर्य का स्थान है। अतः सूर्य भगवान है- इसमें क्या सन्देह है ? तात्पर्य है कि भगवान की प्राप्ति में देरी नही है। परन्तु उसकी प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा नही है, इसलिए देरी हो रही है।

अगर घर में कोई आदमी भूखा हो तो आप उसको दाल, भात, हलवा, पूरी आदि कुछ भी बनाकर दे सकते हैं, पर भूख नही दे सकते। भूख तो उसको खुद की चाहिये। इसी तरह उत्कट अभिलाषा खुद की चाहिये। उत्कट अभिलाषा होने पर भगवत्प्राप्ति में देरी का कारण ही नही। आप देखने को तैयार और भगवान् दीखने को तैयार, फिर देरी का कारण क्या है ?

भगवान् की प्राप्ति बड़ी भारी सुलभ है। ऐसा सुलभ कोई दूसरा काम हो ही नही

सकता। सुलभता-दुर्लभता, सुगमता, कठिनता तो वहाँ होती है, जहाँ कुछ करना पड़ता है अथवा जहाँ प्रापणीय तत्व से दूरी होती है जहाँ कुछ करना ही नहीं पड़ता, उसमें क्या सुलभता और क्या दुर्लभता ? क्या सुगमता और क्या कठिनता ? भगवान् अत्यन्त सुलभ कैसे है ? अब इस पर विचार किया जाता है।

साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के वचन हैं-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

(गीता ७/१९)

'बहुत जन्मों के अन्त में अर्थात् मनुष्य जन्म मे 'सब कुछ वासुदेव ही है'-ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

तात्पर्य है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, खम्भा, मकान, जमीन, कपड़ा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, चिन्तन् करने आदि में आ रहा है, वह सब भगवान् के सिवाय किञ्चित् मात्र भी दूसरी चीज नहीं है- इस बात को अभी, वर्तमान में ही मान लें। स्वयं भगवान् के वचन है-

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। (गीता ७/७)

हे धनञ्जय! मेरे से बढ़कर (इस जगत् का) दूसरा कोई भी किंचित्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूत की मणियाँ सत के धागे में पिरोई हुई होती है, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरे में ही ओत-प्रोत है।'

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। (गीता ७/१०)

'हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियों का अनादि बीज मुझे जान।'

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि। (गीता ७/१२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव है, वे सब मेरे से ही होते हैं-ऐसा समझो। परन्तु मै उनमें और वे मेरे में नहीं है।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। (गीता १०/३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों का जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ, क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

जैसे बीज ही वृक्ष बना है, ऐसे भगवान ही संसार बने है! भगवान् ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियों के बीज है। इतना ही नहीं, इससे भी आगे भगवान् कहते है-

'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९/१९)

सत् और असत् भी मैं ही हूँ। संसार में सत् और असत् के सिवाय और कुछ भी नहीं है! शरीर असत् है, उसमें रहने वाला जीवात्मा सत् है! शरीर परिवर्तनशील है, जीवात्मा अपरिवर्तनशील है! शरीर नाशवान् है, जीवात्मा अविनाशी है। भगवान् कहते हैं कि परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं ही हूँ, नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। अर्जुन भी कहते हैं– **'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'** (गीता ११/३७)

'आप सत् भी हैं और असत् भी हैं और सत्-असत् से परे जो कुछ भी है, वह सब भी आप ही हैं।'

अब भगवान की प्राप्ति में देरी किस बात की है ? परिश्रम किस बात का है ? ये गंगाजी हैं– इसमें क्या देरी लगी ? क्या परिश्रम पड़ा ? भगवान् तो गंगाजी से भी विलक्षण हैं। गंगाजी तो एक जगह हैं, पर भगवान सब जगह हैं! भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है–

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय' (गीता ७/७)

यदि कोई कहे कि इस बात पर हमारा विश्वास नहीं है तो यह उसकी कमी है, तत्व की कमी नहीं है। भगवान् पर विश्वास नहीं करेंगे तो क्या उस शरीर या संसार पर विश्वास करेंगे, जो क्षणभंगुर है, नाशवान् है ? भगवान् की वाणी पर तो विश्वास करते नहीं और चाहते हैं अपना कल्याण ! यह कैसे सम्भव है ? भगवान् के वचनों पर विश्वास न करना भगवान् का तिरस्कार है, अपराध है! अगर उनके वचन हमारी समझ में नहीं आयें तो वह बात दृढ़ता से मान लें कि हमारी समझ में कमी है, तत्व में कमी नहीं है। फिर अनुभव हो जायेगा! कारण कि सच्ची बात सच्ची ही रहेगी, झूठी कैसे हो जायेगी ? भले ही हमारी समझ में नहीं आये, हमारी दृष्टि में नहीं आये, पर सब कुछ भगवान् ही है– इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ज्ञानमार्ग में यह बात आती है कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदि में जो कुछ आता है, वह सब असत् माया है–

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥ (श्रीमद्भा० ११/२८/४)

'संसार की सब वस्तुएँ वाणी से कही जा सकती हैं और मन से सोची जा सकती है, अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा ?'

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।

मोह मूल परमारथु नाहीं।। (मानस, अयोध्या ९२/४)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः। (गीता १८/४०)

'पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो।'

परन्तु भक्ति मार्ग में यह बात आती है कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदि में जो कुछ आता है, वह सब भगवान् ही है–

मनसा वचसा दृष्टया गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।

अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा।। (श्रीमद्भाः ११/१३/२४)

'मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है– यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।

जड़ चेतन जग जीव जत

सकल राममय जानि। (मानस, बाल० ७)

न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं 'चराचरम्। (गीता १०/३९)

'मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।'

तात्पर्य है कि ज्ञान मार्ग में सब कुछ प्रकृति रूप है और भक्ति मार्ग में सब भगवद् रूप है।

ज्ञानमार्ग जड़ता के त्याग में काम आता है और भक्ति मार्ग भगवान् के प्रेम में काम आता है। ज्ञानमार्ग में परमात्मा संसार में व्याप्त है–**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९/४) **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (ईश० १) और भक्तिमार्ग में संसार रूप से परमात्मा ही है– **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७/१९)।

ज्ञानमार्ग में गुण ही गुणों में बरत रहे हैं–**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३/२८) और भक्तिमार्ग मे भगवान् ही भगवान् में बरत रहे है–**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (गीता ६/३०) ज्ञानमार्ग मे साधक अपने लिए उपयोगी होता है और भक्तिमार्ग में साधक भगवान के लिए उपयोगी होता है; क्योंकि भगवान् प्रेम के भूखे है, ज्ञान के नहीं। भक्त भगवान् से प्रेम करते है; अतः उनमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है।

सब कुछ भगवान् ही है–इस बात को कोई जानना चाहे तो वह एकान्त मे बैठ जाय और यह प्रार्थना शुरू कर दे कि हे नाथ ! मै आपको कैसे जानूँ– **'कथं विद्यामहं**

योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्' (गीता १०/१७)। सब कुछ आप ही है- इसको मैं कैसे जानूँ! इस तरह भीतर से लगन लगा दे। एक कहानी है। एक बहुत दरिद्र आदमी था। वह एक महात्मा के पास गया और बोला कि 'महाराज! मेरे पर बहुत कर्जा है। खाने-पीने की, रहने की, कपड़े की बहुत तंगी है। ऐसी कृपा करो कि कर्जा उतर जाय।' महात्मा ने पूछा कि 'तेरे घर में बड़ी चीज क्या है ? 'वह बोला कि 'एक स्नान करने की बड़ी शिला है, जिस पर बैठ कर मै स्नान किया करता हूँ। उससे बड़ी और कोई चीज नहीं है।' महात्मा बोले कि 'तू अभी जाकर बैठ जा और कहना शुरू कर दे कि यह शिला सोने की हो जाय......शिला सोने की हो जाय.....शिला सोने की हो जाय! इतना सोना तो काफी है न ?'

वह बोला कि महाराज! कर्जा तो उसके एक टुकड़े से ही उतर जायेगा!' महात्मा बोले कि 'अब तू जा और चौबीस घण्टे तक इस बात की धुन लगा दे।' वह आदमी घर गया और 'शिला सोने की हो जाय'- ऐसा कहना शुरू कर दिया। ऐसा कहते-कहते तेईस घण्टे बीत गये तो उसने देखा कि अभी शिला का एक टुकड़ा भी सोने का नहीं हुआ। फिर भी वह कहता गया चौबीस घण्टे पूरा होने में पाँच-दस मिनट रह गये, तब भी शिला नहीं बदली पर वह कहते गया। जब एक मिनट बाकी रहा, तब वह कहते-कहते उकता गया और बोला कि सोने की नहीं होती तो लोहे की हो जाय! उसके ऐसा कहते ही चट वह शिला लोहे की हो गयी! उसने महात्मा के पास जाकर कहा कि 'महाराज! वह शिला तो लोहे की हो गयी! वह या तो पत्थर की ही रहती या सोने की हो जाती, लोहे की कैसे हो गयी ?' तू उकता गया, इसलिए तेरे कहने से वह लोहे की हो गयी। अगर तू उकताता नहीं और 'शिला सोने की हो जाय'- यह कहता तो वह सोने की ही हो जाती; क्योंकि वही समय कहने का था।'

इस तरह साधक को चाहिए कि वह उकताये नहीं और आठों पहर भगवान् के पीछे पड़ जाय कि 'मैं आपको कैसे जानूँ!', 'हे नाथ! मैं आपको जान जाऊँ' ऐसी प्रार्थना सभी कर सकते है; क्योंकि भगवान के अंश होने से सबका भगवान् पर अधिकार है। भूख तंग करे तो रोटी खा ले, प्यास तंग करे तो जल पी ले, नींद तंग करे तो सो जाय, पर अपनी लगन नहीं छोड़ो। मन लगे चाहे न लगे, ध्यान लगे चाहे न लगे, पर प्रार्थना मात्र के सुहृद् है- **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५/२९)। दया करके वे अपने-आपको जना देंगे! इससे सुगम साधन और क्या होगा ?

प्रश्न-शास्त्रों मे संसार असत्य है- ऐसा क्यों कहा गया है ? सब कुछ भगवान् ही है-यही बात सब जगह क्यों नही कही गयी ?

उत्तर–संसार को असत्य इसलिये कहा गया है कि आप उससे सुख लेना चाहते हो। जैसे, मन्द अन्धकार में रस्सी साँप की तरह दीखती है। जो उसको देखकर डर जाता है, उसको कहते है कि 'डरो मत, वह साँप नहीं है, यह तो रस्सी है।' परन्तु जो उसको देखकर नहीं डरता, उसको कहते है कि 'यह रस्सी है'। ऐसे ही जो संसार में सुख चाहता है और जिसके भीतर 'संसार सत्य है, सुखरूप है' ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है, उसके लिये भगवान कहते है कि यह संसार दुःखालय और नाशवान् है– **'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८/१५)। परन्तु जो संसार से सुख नहीं चाहता, जिस पर संसार का प्रभाव नहीं है, उसके लिये कहते है कि सब कुछ भगवान् ही है– **'वासुदेवः सर्वम्'**। (गीता ७/१९)

संसार प्रकृति का कार्य है और प्रकृति भगवान की शक्ति है–

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।(गीता ७/४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश–ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार यह आठ प्रकार के भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है।'

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।(श्वेताश्वतर० ४/१०)

'माया तो प्रकृति को समझना चाहिये और मायापति महेश्वर को समझना चाहिये।'

भगवान् की शक्ति होने से प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान से अलग नही हो सकती। जैसे शरीर के गोरे या काले रंग को शरीर से अलग नही कर सकते, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं को शरीर से अलग नहीं कर सकते, ऐसे ही प्रकृति को भगवान से अलग नही कर सकते। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (बल, ताकत, विद्वता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि) के बिना तो रह सकता है, पर मनुष्य के बिना शक्ति नही रह सकती, ऐसे ही भगवान् शक्ति के बिना रह सकते हें, पर भगवान् के बिना शक्ति नही रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान् के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्ति के अधीन नही है। शक्तिमान् के बिना शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव होता है। अतः भगवान् की शक्ति होने से प्रकृति की भी स्वतन्त्र सत्ता का अभाव है।

वास्तव में परमात्मा का स्वरूप समग्र ही है। परमात्मा में कोई शक्ति न हो–ऐसा नही हो सकता। अगर परमात्मा को सर्वथा शक्ति रहित माने तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। जैसे मनुष्य अवस्थाओं से सर्वथा रहित नही हो सकता, कोई न कोई अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा या समाधि) तो उसमें रहेगी ही, ऐसे ही परमात्मा

सर्वथा शक्ति रहित नही हो सकते। उनमें शक्ति का परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्ति का अभाव नही हो सकता। इसलिए गीता मे प्रकृति और पुरुष दोनों को 'अनादि' कहा गया है।

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (१३/१९)

विश्वरूप को भी गीता मे 'अव्यय' कहा गया है-

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।। (११/४)

'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता' (११/१८)

संसाररूप अश्वत्थ-वृक्ष को भी 'अव्यय' कहा गया है-

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। (गीता १५/१)

इससे सिद्ध हुआ कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगम रूप से जो कुछ दीख रहा है, वह सब भगवान ही है भगवान के बिना कुछ भी नहीं है। परन्तु भोग और संग्रह की आसक्ति के कारण मनुष्य को सब कुछ जड़ ही जड़ दीखता है। तात्पर्य है कि जड़ संसार केवल जीव की कल्पना है। वास्तव मे सबकी सब वस्तुएँ चिन्मय भगवत्स्वरूप हैं। भगवान के सिवाय मैं-तू-यह-वह कुछ भी नहीं है अर्थात् 'मैं' भी भगवान का स्वरूप है, 'तू' भी भगवान का स्वरूप है और 'वह' भी भगवान का स्वरूप है। भगवान कण-कण मे पूरे के पूरे है। प्रह्लादजी के कहने पर भगवान नृसिंह रूप से खम्भे मे से प्रकट हो गये; क्योंकि वे वहाँ पहले से ही थे ! इसलिए साधक को वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि कुछ भी दीखे, वह उसमें अपने इष्ट भगवान को देख-कर प्रार्थना कर सकता है कि हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो; हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो, जैसा कि अर्जुन ने कहा है-

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।

(गीता ११/४०)

'हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार हो! पीछे से नमस्कार हो! सब ओर से ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! अमित विक्रय वाले आपने सबको समावृत कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही है।'

(कल्याण से साभार)

❋ ❋ ❋

परम ऋषि कपिल मुनि

कै. ना. कुलश्रेष्ट (जनकजी)

कतिपय विद्वानों ने सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक परम ऋषि कपिल मुनि पर अनीश्वरवादी होने का दोषारोपण किया है।

सांख्य दर्शन के सूत्र १/९२ में 'ईश्वरासिद्धे' के आधार पर उन्हें अनीश्वरवादी समझ लिया है। यह सूत्र प्रथम अध्याय के प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग में आया है। सांख्य दर्शन के सूत्र १/८९ **'यत् सम्बद्धं शत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्'** में प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण बतलाया है, जिसके अनुसार इन्द्रियों की सन्निधि से प्राप्त हुआ जो उस विषय के आकार (चित्र) खीचने वाला विज्ञान (चित्त की वृत्ति) है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

योगिनाम बाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः (सां०द० १/९०) अर्थात् सूत्र १/८९ का लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्ष का है। योगियों का इस प्रकार का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष का नही होता है। उनको तो आभ्यान्तर प्रत्यक्ष होता है।

सूत्र **'ईश्वरासिद्धे'** के अनुसार ईश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्रकृति के क्षेत्र-अन्तःकरण के द्वारा नहीं होता है। अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वर के शुद्ध स्वरूप के तदाकार नहीं हो सकती, क्योंकि चित्तवृत्ति मन या चित्त का स्वभाव है तथा चित्त प्रकृति का अंश है प्रकृति जड़ होने से चेतन पुरुष या ईश्वर का प्रत्यक्षीकरण नही करा सकती है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों का साधारण मनुष्यों को बाह्य प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है। उस प्रकार ईश्वर का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है।

कतिपय विद्वान कपिल मुनि पर यह आरोप लगाते है कि सांख्य दर्शन में उन्होंने समस्त सृष्टि की रचना का कार्य प्रकृति की विषमावस्था के कारण को बतलाया है। परन्तु उन्होंने इस पर कभी विचार नहीं किया कि चेतन तत्व अर्थात् ईश्वर की सत्ताभाव से ही अव्यक्त मूल प्रकृति उसी प्रकार सृष्टि की रचना करती है जिस प्रकार बिना इच्छावाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र से लोहा आप से आप क्रियाशील हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर में न कर्त्तत्व है और न अकर्त्तत्व ही है। ईश्वर इच्छा रहित होने से अकर्ता तथा सामीप्यभाव से कर्ता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसी को गीता के पाँचवे अध्याय में दर्शाया है-

न कर्त्तत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते।

अर्थात्-ईश्वर भूत प्राणियों के न कर्त्तपन को और न कर्मों तथा कर्मों के फल के संयोग को रचता है; किन्तु ईश्वर के सान्निध्य से लोहे की भांति प्रकृति ही वर्तती

है। अर्थात् गुण ही गुणों मे बरत रहे है। तात्पर्य यह है कि जिन योगियो के अन्तःकरण का अज्ञान विवेक ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस पर ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को हृदय मे प्रकाशित करता है अर्थात् आभ्यान्तर प्रत्यक्ष ज्ञान होकर उनको परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

अतः **'ईश्वरासिद्धे'** का तात्पर्य यह है कि योगी ईश्वर का साक्षात्कार तब तक नही कर सकता है, जब तक वह विवेक ख्याति की श्रेणी मे नहीं आ जाता है। इस स्थिति मे उसका अन्तःकरण पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाता है।

अष्टौ प्रकृतयः ।।२।।

षोड्श विकाराः ।।३।।

कपिल मुनि प्रणीत 'तत्व समास' के सूत्र २ व ३ मे जड़ तत्व के दो भेद माने गये है। आठ प्रकृतियाँ-मूल-प्रकृति, महतत्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) है। तथा सोलह विकृतियां अर्थात् पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, और सोलहवां मन है। योगी सर्व प्रथम मन को वश मे करता है। उसके उपरान्त क्रमशः कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियो, पाँच भूतों एवं आठों प्रकृतियों का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार योगी के जड़ प्रकृति के अवान्तर भेदों का अनुभव करने के बाद केवल चेतन तत्व रह जाता है। यह चेतन तत्व ही पच्चीसवां तत्व है।

पुरुषः ।।४।।

जिसका वर्णन सूत्र ४ मे पुरुष कहकर किया है। यह चेतन तत्व शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। यह चेतन तत्व जड़ तत्व से सर्वदा विलक्षण है। चुम्बक और लोहे के समान इसी चेतन तत्व की सन्निधि से ही जड़ तत्व मे क्रिया हो रही है, जिससे प्रकृति विकृति रूप से रचना होती रहती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते (गीता ९/१०)

हे अर्जुनः मुझ अधिष्ठाता के सकाश से यह मेरी प्रकृति (माया) चराचर सहित सम्पूर्ण जगत की रचना करती है। इस संसार के आवागमन के चक्र का अन्य कोई कारण नहीं है।

इस प्रकार कपिल मुनि के इस पुरुष की पुष्टि गीता मे भी की गई है। प्रकृति समस्त जीवों की रचना पुरुष या ईश्वर के सन्निधिमात्र से ही करती है। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है।

उपरोक्त तथ्यों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि परम ऋषि कपिल मुनि शुद्ध ईश्वरवादी थे।

* * *

श्री राम नवमी पर महायोग मेला

आनन्दकन्द परम गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का परम पावन-जयन्ती महोत्सव गत श्री रामनवमी को बहुत हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। यह उत्सव प्रतिवर्ष की भाँति ही इस बार भी ३, ४ व ५ अप्रेल को योग महामेला के रूप में मनाया गया। यद्यपि उत्सव का संचालन मान्य न्यायालय द्वारा निर्दिष्ट अधिवक्ता समिति के देखरेख में ही किया जा सका। इन तीनों दिनों में प्रतिदिन प्रातः गुरु गीता का पाठ कराया जाता रहा। योग वक्ताओं में आचार्य दासलाल शर्मा, डॉ. विजय सिंह आदि के नाम प्रमुख हैं। उत्सव के दूसरे दिन ब्र. बलराम के द्वारा योग आसन एवं जीवन तत्व साधन का प्रदर्शन किया गया। इस प्रकार से उत्सव मधुर वातावरण में सम्पन्न हुआ यद्यपि इस बार हरिद्वार कुम्भ के कारण अथवा अन्य कारणों से श्रद्धालुओं की उपस्थिति कम रही। फिर भी परम गुरुदेव के चरणों में अपनी श्रद्धा सुमन चढ़ाने के लिये शिष्य गण दूर-सुदूर प्रान्तों से हजारों की संख्या में आये और अपने को कृतकृत्य किया।

कुम्भ समाचार

इस वर्ष हरिद्वार में इस शताब्दी का अन्तिम कुम्भ पर्व था। हमारा भी पन्त द्वीप में योग साधन आश्रम ऋषिकेश व श्री सिद्ध गुफा संवाई की ओर से कैम्प स्थापित किय गया था। इस कैम्प में मान्य ब्र. श्री ओम प्रकाश जी महाराज (लखनऊ) द्वारा १८ मार्च से २५ मार्च तक भागवत् कथा का आयोजन रखा गया। आचार्य धर्मेन्द्र शास्त्री ने सभी जिज्ञासुओं व भक्तों को भागवत रस का पान कराया। कैम्प में भोजन तथा आवास की व्यवस्था ऋषिकेश आश्रम के आचार्य श्री पूर्णचन्द्र शर्मा की देखरेख में थी। १४ अप्रेल के मुख्य स्नान के लिये आये अपने इस कैम्प में४००-५०० साधकों की भीड़ जुटी थी इसमें ११ अप्रेल से १४ अप्रेल तक विशेष रूप से गुरु गीता का पाठ एवं गुरु तत्व का प्रवचन श्री ब्र. ओम प्रकश जी महाराज एवं आचार्य श्री दासलाल जी महाराज के द्वारा किया जाता रहा।

योग विद्यालय का शुभारंभ

श्री चन्द्र मोहन जी महाराज गुरुदेव योगिराज के संकल्पित स्थान ग्रा० सीवन जि० रायबरेली में श्री योग साधन आश्रम भवन के साथ-साथ गुरुदेव की प्रेरणा से कक्षा प्रथम से लेकर कक्षा दस तक गुरुदेव के पावन नाम पर 'योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज योग विद्यालय' १ जुलाई १९९७ में ही खुल गया है। पंजीकरण अधिनियम के अनुसार इसका विधिवत् पंजीकरण हुआ है किसी भी प्रकार के सहयोग के इच्छुक व्यक्ति **सिद्धयोग शिक्षण संस्थान** एफ़ २४०० राजाजी पुरम, लखनऊ से सम्पर्क कर सकते हैं।

'गुरुदेव वचनामृत'

पूज्यपाद गुरुदेव के प्रवचनों का संग्रह **'गुरुदेव वचनामृत'** के रूप में आचार्य दास लालजी के द्वारा किया गया है। इसके दो खण्ड हैं प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है। दूसरा प्रेस में है। लेने के इच्छुक व्यक्ति अपने निकट के आश्रमों से सम्पर्क कर अपनी प्रति प्राप्त कर सकते हैं। अथवा आचार्य दास लाल शर्मा से निम्न पते पर पत्राचार कर श्री सिद्ध गुफा संवाई से मंगा सकते है।

प्रथम खण्ड की एक प्रति का
मूल्य रु. ३०/- (डाकव्यय अतिरिक्त)

व्यवस्थापक सिद्धयोग
श्री सिद्ध गुफा संवाई
एत्मादपुर, आगरा

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008 May 1998

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ------------------------

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

अर्थात्

हे परमात्मन् ! आप हम गुरु-शिष्य दोनों की साथ-साथ सब प्रकार से रक्षा करें, हम दोनों का आप साथ-साथ समुचित रूप से पालन-पोषण करें हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकार से बल प्राप्त करें, हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो– कहीं किसी से हम विद्या में परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्र से बँधे रहें, हमारे अन्दर परस्पर कभी द्वेष न हो। हे परमात्मन् ! तीनों तापों की निवृत्ति हो।

–कठोपनिषद

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326